ॐ

श्री राधेश्याम रामायण की तर्ज़ में

शालिभद्र-चरित्र

श्री गुरु चरण कमल रज, का कर हृदय में ध्यान ।
शालिभद्र की कथा का, करता हूँ मैं गान ॥ १ ॥

यह कथा नहीं है केवल ही मानव की एक रञ्जिका है ।
जो करे पठन पाठन इसका उसके दुःखो की भञ्जिका है ॥ १ ॥
पर पाठन पठन न क्रिया-शून्य, होता कुछ भी फल दाता है ।
किन्तू आदर्श मान इसको, कुछ करने से फल पाता है ॥ २ ॥
राजगृह नाम नगर था एक मगध राजा की रजधानी ।
था श्रेणिक नाम नरेन्द्र वहाँ चेलना थी उसकी पटरानी ॥ ३ ॥
इस नगर से थोड़ी दूरी पर इक ग्राम था छोटा बसा हुआ ।
क्या नाम था उसका पता नहीं था जन समूह से ठसा हुआ ॥ ४ ॥

बस्ती थी ग्राम मे कृपकों की ज्यादातर उसमे गूजर थे ।
अपनी खेती पशु पालन से वे सब सुखियो से ऊपर थे ॥ ५ ॥
गूजरी एक धन्ना नामा इस छोटे ग्राम मे रहती थी ।
थी विधवा इससे निशिवासर प्रभु की ही भक्ती करती थी ॥ ६ ॥
था धन्ना के इक पुत्र रत्न संगम सब उसको कहते थे ।
अपने घर मे बेटा माता दिन सुख से व्यतीत करते थे ॥ ७ ॥
धन्ना के एक यही आशा होती ज्यो लकड़ी अंधे की ।
ज्यो कुमोदिनी को होती है, केवल इक आशा चन्दे की ॥ ८ ॥
निज सुत मुख देखदेख धन्ना निशिवासर खूब हुलसती थी ।
दीनता और वैधव्य दुःख से धन्ना नही भुलसती थी ॥ ९ ॥
सुन तोतलि बातें संगम की वह रहती आठो पहर मगन ।
'कब होवे मेरा पुत्र बड़ा' इस आशा ही की लगी लगन ॥१०॥
थे धन्ना के समीप भी कुछ पशु ऐसे दूध जो देते थे ।
उनकी ही आय से धन्ना के दीनता के दुख सब कटते थे ॥११॥
लेकिन उसके ये सुख दिन भी नहि अधिक समय तक रह पाये ।
मिट गया प्रकाश आय सुख का चहुँ ओर दुःख बादल छाये ॥१२॥
दुर्भिक्ष रोग से धन्ना के सारे पशु काल विलीन हुए ।
धन्ना के भाग्य कुभाग्य हुए सब मार्ग आय के क्षीण हुए ॥१३॥
उस ग्राम के सब ही लोगो की लगभग होगई दशा ये ही ।
...ी पशु किसी के नष्ट हुए और मरे किसी-के थे स्नेही ॥१४॥

अपनेहि लिये आश्रय नहिं था तब कौन किसी को देता था ।
अपनी ही सुधि जब रही नही सुधि कौन किसी की लेता था ॥१५॥
धन्ना इस वज्राघात को लख थी नारि हृदय सो सहम उठी ।
भोजन का कार्य चले कैसे इस भय से धन्ना वहम उठी ॥१६॥
भर दुख के आँसू कहन लगी क्या भाग्य लक्ष्मी रूठ गई ।
मेरे हो साथ इस वालक की भी क्या तकदीर है फूट गई ॥१७॥
था पितृहीन ही यह अब तक लेकिन भोजन से हीन न था ।
था गरीबनी का बालक यह लेकिन भिक्षुक-सा दीन न था ॥१८॥
मैं माता हूँ इसलिये मेरा कर्त्तव्य है इसकी रक्षा का ।
दुख मे पड़ दुष्ट स्वभाव न हो यह भार है इसकी शिक्षा का ॥१९॥
कर्त्तव्य विमुख यदि हो जाऊँ तो मात कहाने योग्य नहीं ।
वह माता ही क्यों बनी थी जो बालक की रक्षा योग्य नहीं ॥२०॥
पर क्या उपाय मैं करूँ जो इस बालक की रक्षा हो जावे ।
मैं स्वयं भी चाहे मर जाऊँ लेकिन यह जीता रह जावे ॥२१॥
है ग्राम उजड़-सा बना हुआ, नहि कोइ मजूरी मिलती है ।
इस समय निराशा की निशि में नहिं कोई आशा दिखती है ॥२२॥
फिर क्या इस पति की कुटिया को निश्चय गा पड़े छोडना ही ।
है मेरा इससे प्रेम जो वह निश्चय गा पड़े तोडना ही ॥२३॥
इस ग्राम नदी वन वृक्षो को और स्वास्थदायिनी वायू को ।
क्या छोड़ घटाना पड़े ही गी बच्चे की बढ़ती आयू को ॥२४॥

लेकिन जाऊँगी कहाँ ? नहीं स्थान नजर कोइ आता है ।
है राजगृही नगर समीप बस एक वही दिखलाता है ॥२५॥
बच्चे की रक्षा कारण मैं रह सकती हूँ अब यहाँ नहीं ।
तज कर इन परिचित चीजो को मेरा जाना है ठीक वही ॥२६॥

इस प्रकार से सोचकर, मन मँह निश्चय कीन ।
राजगृही को जान की, तय्यारी करि दीन ॥ २ ॥

संगम बेटा ! अब चलो चलें इस ग्राम मे नहीं गुजर अपना ।
पशु साथ में सब रोजगार गया अब भरना पेट कहाँ अपना ॥ १ ॥
पति वंश में केवल हो तुमही तुमहीं से भावी आशा है ।
मेरे भी तुम्हीं सहारा हो सब ओर तो शेष निराशा है ॥ २ ॥
तेरे ही सहारे जीती हूँ आशा की लता सींच करके ।
रहती हूँ सदा प्रफुल्लित मैं दुख की हाँडी को भींच करके ॥ ३ ॥
जो तू मर गया यहाँ भूखो तो होगा येह कलंक मुझे ।
पति-वंश नाश हो जावेगा छा रहा यही आतंक मुझे ॥ ४ ॥
सब कहेंगे कैसी माता थी बालक को नहीं सम्हाल सकी ।
सुख में तो लाड लड़ाती थी पर दुख के दिन न निकाल सकी ॥ ५ ॥
इसलिये ग्राम गृह ये तज कर अब कहीं अंत चलना होगा ।
है राजगृही नगर समीप चल वहाँ वास करना होगा ॥ ६ ॥
अबतक तो रहे ग्राम मे ही लेकिन अब नगर में रह देखें ।
ो की रहन सहन तुलना इन विपत्ति दिनों मे कर देखें ॥ ७ ॥

बालक अबोध क्या समझ सके कि माता यह क्या कहती है ।
इस समय विपति क्या है इस पर यह रोती है या हँसती है ॥ ८ ॥
वह तो केवल माता की तरफ भर नजर एक टक देख रहा ।
ज्यों पतंग निरखे दीपक को अरु चकोर चन्दा पेख रहा ॥ ९ ॥
धन्ना ने घर में जो कुछ था कपड़े बरतन टूटे फूटे ।
भर लिये टोकरे के अन्दर रख लिया टोकरा निज सिर पे ॥१०॥
पति कुटिया को प्रणाम करके सब पड़ोसियों से मिली जुली ।
नयनों से ढाल दु:ख आँसू ले संगम गाँव से निकल चली ॥११॥
बाहर हो खड़ी निरख धन्ना निज ग्राम के वन पशु पक्षी को ।
आँखों से बहा दुःख आँसू सम्बोधन करके इन सबको ॥१२॥
हे चिर परिचित ! यह अभागिनी तुम सबको तजकर जाती है ।
नहि तजती हूँ मैं सुख-पूर्वक पर सुत की दया तजाती है ॥१३॥
यह पता नहीं कब लौटूंगी कब होंगे तुम्हारे फिर दर्शन ।
पर निकट भविष्य में आने के दिखलाते मुझे नहीं लक्षण ॥१४॥
अपराध हुए हो मेरे जो उन सबको आप क्षमा करना ।
माँगती आपसे यह भिक्षा सर्वदा दया मुझ पर रखना ॥१५॥

इस प्रकार तज ग्राम को, धन्ना जिय दुखियाय ।
राजगृही नगर चली, संगम साथ लिवाय ॥ ३ ॥

धन्ना के मन में उस समय जो भाव उपजते जाते थे ।
वर्णन उनका कर सके कौन वे बाहर निकल न पाते थे ॥ १ ॥

धन्ना जब मार्ग पार करके राजगृह नगर समीप गई ।
दिखने जब लगी नगर रचना तब धन्ना कुछ भय भीत भई ॥ २ ॥
है युवा अवस्था अभी मेरी सब तरह के लोग यहाँ होगे ।
लुच्चे गुण्डे बदमाश और पर-दारा चोर यहाँ होगे ॥ ३ ॥
भगवन् ! मेरे सतीत्व की मैं कैसे रक्षा कर पाऊँगी ।
अब तक जो रहा सुरक्षित है क्या उसको यहाँ नशाऊँगी ॥ ४ ॥
लेकिन मै रहूँ पवित्र हृदय क्या शक्ति कोई मुझको देखे ।
पति मरने के पश्चात् नहीं जग भर मे पुरुष मेरे लेखे ॥ ५ ॥
जो छोटे सम वे भाई हैं जो बड़े हैं वे हैं पिता मेरे ।
भगवन् ! तुम इसके साक्षी हो निकले हैं जो उद्गार मेरे ॥ ६ ॥
तुमको ही साक्षी करके मैं यह और प्रतिज्ञा करती हूँ ।
नहिं खाऊँ पहरूँ दुसरे का जबतक संसार मे जीती हूँ ॥ ७ ॥
होवेगी कृपा प्रभो तेरी दोनो प्रण ये पल जावेगे ।
छाये जो और विपति बादल वे भी सारे टल जावेगे ॥ ८ ॥
करके ये प्रतिज्ञा धन्ना ने राजगृह नगर प्रवेश किया ।
है गई नगर की गलियो मे बाजार की ओर न ध्यान दिया ॥ ९ ॥
सोचा, क्या करूँ वहाँ जाकर कुछ लेना देना तो है नहीं ।
पैसा है एक समीप नहीं ढूँढूँ जाकर रोजगार कहीं ॥१०॥
एक वीथी मे कुछ सेठानियाँ बैठी थी निज गृह द्वारे पर ।
देखी उनने धन्ना थी रखे टोकरा वह सिर पर ॥११॥

थीं सम्पन्ना जैसी घर की त्यो दया में भी वे पूरी थीं ।
देने में निठुरता को स्थल वे।हृदय की पूरी क्रूरी थीं ॥१२॥
धन्ना की दीन दशा लख कर उनका दिल दया से फूट गया ।
सोचा, है कोई विपदग्रस्ता घरबार है इसका छूट गया ॥१३॥
क्या मालुम कहाँ से आई है किस ओर को इसका जाना है ।
वालक को साथ लिये है पर दिखता नहि कहीं ठिकाना है ॥१४॥
पूछा धन्ना से, बहन कहो तुम।कौन कहाँ से आती हो ।
सिर पर क्या रखा टोकरे में इस ओर कहाँ तुम जाती हो ॥१५॥
नम्रता सहित धन्ना ने कहा-मैं एक ग्रामिणी गुजरी हूँ ।
आने से बाढ़ विपति की मैं आश्रय पाने को निकली हूँ ॥१६॥
पति मुझे छोड़ परलोक गये यह साथ में मेरा बालक है ।
पशु मरते ही हम दोनो का जग में न रहा कोइ पालक है ॥१७॥
धन्ना की सुनकर दुःख कथा सबने हमदर्दी दिखलाई ।
'भूखी होगी कुछ खा तो लो' यह बात एक स्वर से आई ॥१८॥
धन्ना ने कहा-मैं कदापि भी नहिं अन्न पराया खा सकती ।
जो पन्थ बताया बड़ों ने है तज उसको अन्त न जा सकती ॥१९॥
दीना हूँ पर न भिक्षुका हूँ विधवा हूँ पर न स्वतन्त्रा हूँ ।
जो नियम गृहस्थ के होते हैं मैं भी उनकी परतन्त्रा हूँ ॥२०॥
हूँ असहाया पर उद्यम से पुरुषारथ से मै खाती हूँ ।
जब तक हाथो मे है शक्ति तब तक न ,हाथ फैलाती हूँ ॥२१॥

होगा स्वभाव भी भिखमंगा लालायित रहा करूँगी मैं ।
मजदूरिन हूँ इससे इनसे पड़ जावेगा जीवन दुख मे ॥ ४ ॥
बालक को भी अपने धन्ना ऐसी ही शिक्षा देती थी ।
'लूँगा मे किसी से चीज नहीं' यह वचन सदा ले लेती थी ॥ ५ ॥
इस तरह से थोड़े ही दिन में धन्ना सब पड़ोस के घर में ।
है लगी कहाने प्रामाणिक विश्वास लगे सबही करने ॥ ६ ॥
धन्ना भी सबके कामों को सब तरह से अच्छा करती थी ।
नीची ही दृष्टि सदा रखती ऊपर को आँख न पड़ती थी ॥ ७ ॥
प्रिय वचन बोल करके धन्ना सब लोगो को प्रसन्न रखती ।
इस तरह विपति के दिन मे भी वह थी सुख का अनुभव करती ॥ ८ ॥
संगम पड़ोस के लड़को में सब समय खेलता रहता था ।
पर वे अमीर यह गरीब था इसलिए प्रेम नहीं रहता था ॥ ९ ॥
धन्ना ने सोचा यदि सगम यो साथ रहा इन लोगो के ।
जायेगी आदत बिगड़ फेर चाहेगा सुख इन भोगो के ॥१०॥
वे धनिक-बाल यह दीन-बाल दोनो के मारग न्यारे है ।
खाना पीना और रहन सहन ये अलग अलग ही सारे है ॥११॥
संगम को फिर यह दीन पना होवेगा सदा अरुचिकर ही ।
हो जावेगा यह दुख कारण मेहनत मे फिर मन लगे नहीं ॥१२॥
इसके सिवाय यह नगर वायु करती है नाश स्वास्थ्य को भी ।
वन की शुद्ध पवित्र हवा मिलती नहि यहाँ किसी को भी ॥१३॥

कर निश्चय कुछ मनमे धन्ना संगम बेटे से कहती है ।
दिन भर तू कहाँ घूमता है कुछ बात जान नहिं पड़ती है ।।१४।।
ये धनिक बाल तेरे सॅग मे क्यो प्रेम भाव रखते होंगे ।
तू पास बैठ जाता होगा तो देख देख जलते होगे ।।१५।।
इस नगर-वायु से दिन पर दिन तू दुबला होता जाता है ।
कुछ श्रम भी तुझे न पड़ता है, इससे भोजन कम खाता है ।।१६।।
है मेरी सम्मति एक, अगर तू माने तो बतलाऊॅगी ।
जो बात लाभ प्रद होवेगी वह ही तुझको सिखलाऊॅगी ।।१७।।
इन पड़ोसियो के बछड़े ले तू नित जंगल को जाया कर ।
दिन भर उनके सॅग में रह कर तू चरा वहाँ से लाया कर ।।१८।।
ऐसा करने से एक लाभ तो इन सब से बच जावेगा ।
दूसरे गरीबी मे अपनी कुछ और मजूरी लावेगा ।।१९।।
सॅग तेरे चल कर मैं कुछ दिन सब बात तुझे सिखलादूँगी ।
कैसे अरु कहां चराना है, यह तुझको सब बतला दूॅगी ।।२०।।
सङ्गम ने कहा-हाँ जाऊॅगा जो कहोगी तुम मैं करूँ वही ।
बछड़ों को चराऊॅगा बन मे खेलूँगा उनके सॅग में ही ।।२१।।
बेटे की सम्मति पा धन्ना सब पड़ोसिनों के पास गई ।
उनसे उनके बछड़े माँगे वे क्यो करने थी लगी 'नहीं' ।।२२।।
बछड़ो को सङ्गम के सँग दे धन्ना भी साथ गई बन को ।
बतला कर गोचर भूमि आदि आगई पलट अपने घर को ।।२३।।

सन्ध्या को जा सङ्गम सन्मुख बछड़े सह साथ लिवा लाई ।
इस तरह एक दो दिन धन्ना बछड़ो के सङ्ग गई आई ॥२४॥
फिर सङ्गम लगा अकेला ही वच्छो को चराने वन जाने ।
नहिं हुई सहाय जरूर उसे अब तो था मारग पहिचाने ॥२५॥
घर से सङ्गम कुछ खा पीकर था भोर समय जाता वन को ।
बछड़ो को चराता वह दिन भर सन्ध्या पहिले आता घर को ॥२६॥
इस तरह नित्य वह वन जाता वन-देवी से शिक्षा लेता ।
लाता फल फूल वहाँ से जो वह दुखियों को आता देता ॥२७॥
वृक्षो से सीखा दान और उपकार दूसरे का करना ।
सीखा था हवा से निर्मम हो विन भेद भाव सेवा करना ॥२८॥
नदियों से रहना एक धार करना विरोध पथ कंटक का ।
झरनों से सीखी निर्मलता रखना निशान नहिं झंझट का ॥२९॥
पाई शिक्षा थी धैर्य और गाम्भीर्य की उसने शैलो से ।
दुसरे की लातें सहलेना यह क्षमा थी सीखी गैलों से ॥३०॥
विना खुशामद सत्य वात पक्षी से सीखा था कहना ।
आकाश से सीखा आश्रित पर विन भेद भाव छाया रखना ॥३१॥
इस तरह प्रकृति की एक एक वस्तू से वे गुण सीखे थे ।
पढ़ने पर अनेक वर्षों तक शाला में जो नहिं मिल सकते ॥३२॥
लाकर बछड़े जिसके उसके घर वाँध दिया वह करता था ।
दे न उलहना माता को इस वात से डरता रहता था ॥३३॥

जिनके बछड़े चरने जाते सङ्गम से प्रेम वे करते थे ।
कोई चीज़ वस्तु होती अच्छी संगम को देने लगते थे ॥३४॥
संगम उनको लेता न कभी कहता माता की है शिक्षा ।
"विन किये परिश्रम वस्तु मिले कहलाती यह ही है भिक्षा ॥३५॥
भिक्षा लेना है पाप महा, जब तक कि अपन गृहस्थी हैं ।
क्यों लेवें फिर हम भिक्षा को, जब तक हाथों में शक्ती है" ॥३६॥
सुनकर यह उत्तर संगम का, वे दाता सब शरमा जाते ।
मन ही मन संगम धन्ना को, सब धन्यवाद देते जाते ॥३७॥

धन्ना सङ्गम दोउ की, रहती थी यह नीति ।
प्रेम मगन दोऊ रहें, तजी न कुल की रीति ॥ ७ ॥

बालक संगम दिन एक गया, घर घर में बछड़े लाने को ।
देखा उनके घर बच्चों को, थी मिली खीर ही खाने को ॥ १ ॥
संगम समझा त्योहार कोई, है आज खीर के बनने का ।
था बालक मन में ललचाया, मन चला खीर ही खाने का ॥ २ ॥
त्योहार है तो माता ने भी, होवेगी खीर बनाई ही ।
पहिले मैं घर से खाआऊँ, जाऊँगा खीर को खाकर ही ॥३॥
यों सोच दौड़ता घर आया, मन में था बहुत हुलास भरा ।
लेकिन माता की बातों से, सारी आशा पर वज्र गिरा ॥ ४ ॥
माता ने कहा बेटा खा ले, मैं बैठी हूँ रोटी करके ।
मुझको तुझको देरी होती, कारज करने दुसरे घर के ॥ ५ ॥

संगम ने पूछा-क्यों माता, क्या खीर न आज बनाई है ।
घर घर में सब बालक खाते, मेरे मन खीर समाई है ॥ ६ ॥
धन्ना बोली-सोचो बेटा, क्या चीज धरी अपने घर में ।
जिससे मै खीर बना लेती, नहिं पैसा भी मेरे कर में ॥ ७ ॥
संगम ने कहा-माता मैने, कोई चीज न अब तक मांगी थी ।
देती थी तू जैसी रोटी, रूखी सूखी सब खा ली थी ॥ ८ ॥
मांगी जो मैने खीर आज, तो उत्तर यह तू देती है ।
बेटे को खीर न दे सकती, ऐसी तू माता कैसी है ॥ ९ ॥
मेरा प्रण तुझे सुनाता हूँ, बस आज खीर ही खाऊंगा ।
अन्यथा बिना कुछ खाये ही, भूखा जंगल को जाऊंगा ॥१०॥
सुनकर बेटे की बातों को, फट गया हृदय ज्यों धन्ना का ।
उसके सन्मुख क्षण भर खातिर, छा गया एक दम सन्नाटा ॥११॥
पाठक! सोचो इस समयमे क्या, जननीके हृदयकी गति होगी ।
सुत की इच्छा पर चीज न दे, ऐसी किस माँ की मति होगी ॥१२॥
पर तुलसिदास की एक उक्ति, इस समय याद हो आती है ।
'नहि दरिद्रता सम दुख जग मे', यह बात ठीक दिखलाती है ॥१३॥
धन्ना कहती है हाय! हाय!! यह आज समय क्या है मेरा ।
जो खीर की खातिर रोता है, बेटा इकलौता यह मेरा ॥१४॥
था एक समय ऐसा जब कि, घर दूध दही खुब होता था ।
लेकिन तब घर कोई बालक, नहि खानेवाला उनका था ॥१५॥

अब आज एक यह बेटा है, तो घर में कोई चीज नहीं ।
खीर की खातिर दूध कहां, पर चावल का एक बीज नहीं ॥१६॥
कैसी हूँ अभागिन हाय ! हाय !! बेटे का पेट न भर सकती ।
है उचित तो मेरा मर जाना, लेकिन बे मौत न मर सकती ॥१७॥
धन्ना अपने सुख समय से उस, इस विपति की तुलना करती है ।
लख भारी त्रिपति के पलड़े को, वह दुःख अग्नी से जलती है ॥१८॥
हृदयस्तल जब उस अग्नी से, जल चुका तो अग्नी भभकउठी ।
रुक सकी न फिर वह भीतर ही, बाहर भी लपटें धधक उठी ॥१९॥
ज्वालामुख सी वह फूट पड़ी, लगी धन्ना बिलख बिलख रोने ।
आँखों से बहकर जल सोते, धन्ना के चरण लगे धोने ॥२०॥
माता को रोते देख पुत्र, रोने लग गया स्वयं वह भी ।
वह समझ गया कि मेरी माँ, रोती मेरे कारण से ही ॥२१॥
'मत रोओ माँ मत रोओ माँ, मैं खीर न तुमसे माँगूगा ।
तुम जो कुछ मुझ को दे दोगी, चुपचाप वही मैं खालूँगा' ॥२२॥
सुनकर बेटे की उक्त वात, धन्ना का दिल फट और गया ।
दुःख-अग्नी में इन वचनों ने, ईंधन का सा ही काम किया ॥२३॥
धन्ना रोने के साथ साथ, धिक्कारति थी अपने ही को ।
वेटे को दोप न देती थी, कहती दोषी अपने ही को ॥२४॥
रोना सुनकर इनदोनो का, सब पड़ोसने दौड़ी आई ।
धन्ना से वे पूछने लगीं, तुम रोती हो क्यों किस ताईं ॥२५॥

यह संगम भी तो रोता है, क्या कारण इसके रोने का ।
ऐसा क्या कष्ट है आन पड़ा आँसू से मुख के धोने का ॥२६॥
धन्ना ने देखा आई हैं, ये पड़ोस की रहने वाली ।
रोना कर दिया बन्द अपना आँखे जल्दी से पोछडाली ॥२७॥
'कुछ नहीं पूर्व की बातो का, स्मरण था मुझको हो आया ।
आ गया था इससे ही रोना, कोइ दुसरा कष्ट नही आया' ॥२८॥
धन्ना के इस उत्तर से, सन्तुष्ट हुई नहि वे नारी ।
'क्यों हम से बात छिपाती है, दे सच्ची बात बता प्यारी ॥२९
तू कभी है रोती उस दु:ख से, पर यह संगम क्यो है रोता ।
कह दे सच तू क्या कारण है, क्यो हमको देती है गोता' ॥३०॥
यह बात पड़ोसिन की सुनकर, धन्ना उनसे यों लगी कहने ।
मैं कह कुछ भी न हि सकती हूँ, मत विवश करो मुझको बहनें ॥३१॥
'कहना होगा' 'कहना होगा' चौ तरफ से वे सब यों बोली ।
यों कहने पर भी धन्ना ने, रोने की बात नहीं खोली ॥३२॥
यह कहा-आज इस संगम ने, एक चीज़ अनोखी माँगी थी ।
वह चीज़ न थी मेरे घर मे, इससे दुख ज्वाला जागी थी ॥३३।
लेकिन अब तो यह समझ गया, हठ भी इसने अपनी तज दी ।
यह तो रोता था मुझे देख कोइ और बात दुसरी नहि थी ॥३४॥
"हम पड़ोसनें किस काम की हैं जो बालक चीज नहीं पावे ।
बतला क्या चीज माँगता है कह मेरे घर से ले आवे ॥३५॥

तेरे घर चीज न हो तो क्या मेरा घर कोई दुसरा है ।
क्यों इसे न घर को भेज दिया यह बालक क्या कोइ दुसरा है ॥३६॥
कह जल्दी से यह क्या माँगे उस चीज से इसे मिलाती है ।
मत कहना झूठी बात जरा हम तुझको शपथ दिलाती हैं ॥३७॥
धन्ना ने कहा, कुछ और नहीं यह केवल खीर माँगता है ।
पर घर दुसरे से माँग माँग खाने को बुरा मानता है ॥३८॥
मैं अपना प्रण तो पहले ही तुम मत्र बहनो को सुना चुकी ।
जो पका हो दुसरे के घर में वह अन्न न खाती बता चुकी ॥३९॥
मर जाऊँ चाहे अपने घर पर नहीं माँगने जाँऊँगी ।
जब तक जीती बेटे को भी मैं यही बात सिखलाऊँगी ॥४०॥
'बस केवल खीर को रोता है? हम स्वयं अभी लासकती हैं ।
पर प्रण तेरा और संगम का सुनकर लाने में डरती है ॥४१॥
लेकिन कच्ची सामग्री के लेने का त्याग नहीं तुझको ।
चल हम सामग्री देती हैं, ला खीर बना कर दे इसको' ॥४२॥
सुन कहा दूसरी ने इससे यह कथन तुम्हारा ठीक नही? ।
जब जाकर ही यह लावेगी, तब क्या वह होगी भीख नही ॥४३॥
यह भिक्षुकनी सी खडी रहे, द्वारे पे तुम्हारे जाकर के ।
अभिमान सहित तुम भीतर से, देओ सामग्री लाकर के ॥४४॥
यह देना क्या है, दुसरे को, वे इज्जत करके देना है ।
वैसे ही अपनी इज्जत खो, वेइज्जत होकर लेना है ॥४५॥

धन्ना है यद्यपि गरीबिनी, लेकिन इज्जत तो रखती है ।
बतलाओ किसी वस्तु खातिर, यह कभी किसी से कहती है ॥४६॥
यह आती है जब अपने घर, तब भी कुछ देने लगती हैं ।
स्वेच्छा से कर सत्कार खूब, अरु मीठे वचन भी कहती हैं? ॥४७॥
लेकिन क्या कभी लिया भी है, धन्ना ने दिया हुआ ऐसे ।
फिर घर चलकर ले आने को, इससे तुम कहती हो कैसे ॥४८॥
यदि देना हो तो लाकर दो, सम्मान सहित इसके घर पर ।
लेने को स्वयं न जावेगी, यह कभी किसी के द्वारे पर ॥४९॥
सुन बोली सब-हां ठीक कहा, हम ही लाकर के देती हैं ।
थी भूल हमारी जो इससे, घर चल लाने को कहती हैं ॥५०॥
धन्ना उनको रोकती रही, पर वे अपने घर दौड गईं ।
कोइ दूध कोई शक्कर मेवा कोइ चावल लाई खीर तई॥५१॥
लाकर धन्ना को आदर सह उन सबने ये वस्तू दे दी ।
धन्ना ने करी बहुत नाही पर उनने एक न चलने दी ॥५२॥

पा सामग्री खीर की, चटपट खीर बनाय ।
संगम आगे परसदी, बेटा ले अब खाय ॥८॥

जब तक तू इसको खा तब तक मैं सेठानियों के घर जाऊँ ।
कारज को उनके देर हुई मैं जाकर के सब कर आऊँ ॥ १ ॥
यों कहकर धन्ना चली गई, संगम भोजन पर बैठा है ।
ठण्डी हो जावे तब खाऊँ मनमें उसके यह आशा है ॥ २ ॥

इतने में एक मुनी आये कृषतन थे पर था तेज महा ।
आकृति थी धीर गँभीर भरी, तपबल चहुँ दिशि मे छिटकरहा ॥ ३ ॥
दृष्टी थी वस नीचे कोही कोइ जीव न पग से मर जाये ।
पारणा आज है मास खमण का भिक्षा लेने वे आये ॥ ४ ॥
संगम ने मुनि आते देखा तो मन में बहुत प्रसन्न हुआ ।
कर सराहना निज पुण्यो को समझा वह मै कृत-कृत्य हुआ ॥ ५ ॥
वह चला हर्ष से मुनि सन्मुख जा समीप उनके पाँव पडा ।
दीनता नम्रता दिखला कर कर जोड सामने हुआ खड़ा ॥ ६ ॥
बोला-मुनिराज कृपा करिये कुछ मेरे घर से ले लीजे ।
हूँ तो इस योग्य नही लेकिन मेरी आशा पूरी कीजे ॥ ७ ॥
यो कह कर संगम घर में से उस खीर पात्र को ले आया ।
मुनि को देने की भावना से नहि हृदय हर्ष उसके माया ॥ ८ ॥
मुनि ने सोचा मैं आया था रूखा सूखा भोजन लेने ।
इस कारण से ही धरा नहीं धनिकों के घर मे पग मैंने ॥ ९ ॥
लेकिन है खीर यहाँ पर भी, अब इसे न यदि मैं लेता हूँ ।
तो इस श्रद्धालु बालक की आशा को ठोकर देता हूँ ॥१०॥
मुनि ने यो सोच पात्र अपना रख दिया सामने संगम के ।
'थोडी ही देना' कहा किन्तु थे हाथ परसते संगम के ॥११॥
आनन्द हर्ष वश संगम को मुनि कथन न किंचित् याद रहा ।
सब खीर पात्र में वेहरा दी उसके कर खाली पात्र रहा ॥१२॥

आयू भर मे संगम ने आज खाने को खीर यह पाई थी ।
वह रोया था तब पड़ोसनो की कृपासे वस्तू आई थी ॥१३॥
लेकिन संगम को तनिक लोभ उस समय न था निज खाने का ।
हाँ यहतो लोभ अवश्य हुआ आये मुनि को व्हराने का ॥१४॥
वहरा कर खीर साथ जाकर मुनि को कुछ दूर पठा आया ।
कर नमस्कार वन्दन मुनि को संगम अपने घर फिर आया ॥१५॥
मनमें अति हर्षित था संगम यों हृदय सोचता जाता था ।
मैं कैसा था हतभाग्य नहीं कोई मेरे घर आता था ॥१६॥
पर पता नहीं कि सूर्य आज किस शुभ मुहुर्त मे था निकला ।
जो मुझ ऐसे हतभाग्य वाल को ऐसा आज सुयोग मिला ॥१७॥
मुनि रूपी कल्पवृक्ष पारस जो चल कर मेरे घर आया ।
खुल गये मेरे तकदीर आज घर बैठे मुनि दर्शन पाया ॥१८॥
यदि और किसी दिन मुनि आते तो क्या मैं उनको वेहराता ।
थी मुनि के योग्य न वस्तु कोई ऐसी जो उनको दे पाता ॥१९॥
पर भाग्य मेरे थे कैसे जो मुनि भी आये वस्तू भी थी ।
यह तो वैसा ही योग मिला सोना भो था खुशबू भी थी ॥२०॥
लेकिन थी खीर बनी कैसी यह मै भी तो चखकर देखूँ ।
मुनि को भी लगेगी वैसी हो इससे अनुभव तो कर देखूँ ॥२१॥

इस प्रकार से सोच कर, संगम धीर गँभीर ।
लगी रही जो पात्र में, लगा चाटने खीर ॥ ६ ॥

संगम था खीर चाटता ही, इतने मे आई धन्ना भी ।
है पुत्र चाटता बरतन को, समझी तसमैं इसने खाली ॥ १ ॥
मातृ-स्वभाव से धन्ना ने, पूछा क्या खीर और लेगा ?
था संगम तो भूखा बैठा, नाही का उत्तर क्यो देगा ॥ २ ॥
संगम ने कहा—यदि हो तो दे, धन्ना ने शेष खीर देदी ।
संगम तो बिलकुल भूखा था, इससे उसने वह सब खाली ॥ ३ ॥
संगम ने मुनि के आने का, कुछ हाल कहा नहिं माता से ।
खाई नहिं खीर किन्तु दे दी, यह दान कहा नहिं माता से ॥ ४ ॥
धन्ना थी समझी हुई यही कि खीर को खा ली है इसने ।
लेकिन इसकी नहिं भूख गई, इससे फिर मांगी है इसने ॥ ५ ॥
नित से दूना भोजन खाया, यह देख हुई धन्ना दुखिया ।
इतना ही भोजन नित करता, होता यदि यह संगम सुखिया ॥ ६ ॥
पर रूखा सूखा पाने से, यह अर्ध पेट ही खाता है ।
है यही सबब जो यह दिन दिन, दुबला ही होता जाता है ॥ ७ ॥
हूँ अभागिनी माता कैसी, पूरा भोजन नहि दे पाती ।
इससे तो अच्छा यह ही था, कि मै माता नहिं कहलाती ॥ ८ ॥
यों धन्ना तो दुख करती है, अरु संगम बैठा खाता है ।
लेकिन पडोस के लोगों में कुछ और रंग दिखलाता है ॥ ९ ॥
कुछ पड़ोस की महिलाओं ने, मुनिराज को आते देखा था ।
संगम को श्रद्धा-भक्ति सहित, बहराते खीर भी देखा था ॥१०॥

वे सब एकत्रित हो करके इस बात की चर्चा करती हैं ।
मुनिराज बड़ाई साथ साथ, संगम की प्रशंसा करती है ११॥
कहती हैं धन्य धन्य धन्ना, जिसका यह बेटा सद्‌भागी ।
होता है ऐसा एक भला, शत भी नहिं अच्छे दुर्भागी ॥१२॥
क्या पुण्य कमाई है इसकी, मुनिराज जो इसके घर आये ।
है पात्र प्रशंसा के वे कर, जिनने मुनि भोजन वहराये ॥१३॥
हैं कैसे किये सुकृत इसने, जिनका फल ऐसा पाया है ।
जो चलता फिरता कल्पवृक्ष, इस बालक के घर आया है ॥१४॥
है गँभीरता इसमें कैसी, घर आता कुछ देने लगतीं ।
नहि कहेगी धन्ना से ले ले, यह कहकर खुब आग्रह करतीं । १५॥
लेकिन नहि यह कदापि लेता, नहि कभी देखकर ललचाता ।
बस नीची गरदन कर आता, कर काम तुरत घर फिर जाता ॥१६
सन्तोष कि इसी कमाई से, इसने यह अवसर पाया है ।
धनवान बहुत होने पर भी, जो अपने हाथ न आया है ॥१७॥
है सद्‌भागी माता वह भी, यह जिसकी कूख से जन्मा है ।
है धन्य धन्य उसकी शिक्षा, जिसका ऐसा फल निकला है ॥१८॥
लेकिन यह शिक्षा धन्ना ने, मौखिक ही उसे नहीं दी है ।
किन्तु हर बात आचरण कर, इसके दिल अंदर भरदी है ॥१९॥
दूसरे को शिक्षा देते हैं, आचरण आप नहिं करते हैं ।
उनकी शिक्षा के शब्द शब्द ऐसे ही रोते फिरते हैं ।२०॥

धन्ना यह बात समझती थी, इससे वह भी नहि लेती थी ।
जो देने लगतीं कोइ वस्तु, तो कैसा उत्तर देती थी ॥२१॥
जिसकी माता जैसी होगी, सुत भी तो वैसा ही होगा ।
यदि माता होगी भिखमंगी, बालक भी भिक्षुक ही होगा ॥२२॥
होवे यदि जननी वीर धीर, बालक भी वीर धीर होगा ।
कायर होगी कायर होगा, गँभीर होगी गँभीर होगा ॥२३॥
होगी यदि माता प्रामाणिक, बेटा भी प्रामाणिक होगा ।
माता होगी गुणवान यदी, बेटा भी गुणखानिक होगा ॥२४॥
मतलब यह ये गुण धन्ना मे थे, इससे आये संगम में ।
माता में जितने गुण थे वे, बेटे को मिले विरासत मे ॥२५॥
इस तरह पड़ोस की सब नारी, दोनो कि बड़ाई करती हैं ।
लेकिन धन्ना को खबर नही, वह तो दुख आँसू भरती है ॥२६॥
संगम ने खीर खा ली लेकिन, कब उसे हजम वह हो सकती ।
रूखा सूखा खाने वाले को, खीर थी कैसे पच सकती ॥२७॥
इससे विशूचिका हुई उसे, बीमार पड़ा अपने घर मे ।
लेकिन था बहुत प्रसन्न हृदय, है बना ध्यान मुनि का मनमे ॥२८॥
कहता—हूँ कैसा सद्भागी, जो आज शुभ घड़ी यह आई ।
परलोक गमन के ठीक समय, मारग की यह खर्ची पाई ॥२९॥
हैं पूर्व-पुण्य मेरे अच्छे, अन्यथा मुनी कैसे आते ।
धनिकों के घरों को छोड़ छोड़, मेरे ही घर कैसे आते ॥३०॥

इस रुग्णावस्था मे भी, संगम यो विचार करता है ।
हैं पूर्व पुण्य ऐसे जिससे, यो शुद्ध भावना भरता है ॥३१॥
धन्ना बालक की दशा निरख, होती है बहुत दुखी दिल में ।
धन तो नहिं है पर तन मन से, है लगी पुत्र की खिदमत में ॥३२॥

पाठक गण अब आइये, चलें दूसरी ओर ।

जाना होगा दूर नहि, है समीप ही ठौर ॥ १० ॥

संगम घर से कुछ दूरी पर, गोभद्र सेठ इक रहते थे ।
थे नगर मे जितने व्यापारी इनके ही आश्रित रहते थे ॥ १ ॥
इतना धन था कुछ पार नहीं, पर नहीं धरम भी कुछ कम था ।
राजगृहि नगर मे अन्य कोई, नहि वैभव मे इनके सम था ॥ २ ॥
थी भद्रा इनकी सेठानी, निज नाम सफल जो करती थी ।
निशिवासर पति की सेवा में, तन मन से निमग्न रहती थी ॥ ३ ॥
दम्पति का जीवन सुखमय था, मन एक है पर तन ही दो थे ।
दिन रात धर्म के सागर में, खाया करते दोनो गोते ॥ ४ ॥
भद्रा सेठानी एक दिवस, अपने मन बहुत उदास हुई ।
पर रही न चिन्ता भीतर ही, आकृति पर भी वह भास गई ॥ ५ ॥
खाना पीना सोना हँसना, कुछ उसे न अच्छा लगता है ।
तन हृदय सहित बस चिन्ता की, अग्नी मे जलता रहता है ॥ ६ ॥
गोभद्र ने पत्नी की चिन्ता, मेटन के बहुत उपाय किये ।
बतलाये रतन तमाशेपर उसने नहि मन मे एक लिये ॥ ७ ॥

बल्की न खेल तमाशों ने रँग रागने उल्टा काम किया ।
चिन्ताग्नि बुझाने के बदले, उसमें ईंधन का झोंक दिया ॥ ८ ॥
थे जो पदार्थ सुखदायक वे, भद्रा की फिकर बढ़ाते थे ।
उनको लख लख कर सर्व गात भद्रा के सूखे जाते थे ॥ ९ ॥
यह देख दशा निज पत्नी की, लख सभी उपायों को असफल ।
गो भद्र भी आप हुए चिन्तित, नहिं रही हृदय में उनके कल ॥१०॥
बोले—हे भद्रे ! बतला तो ऐसी क्या चिन्ता है तुझको ।
जब तक डूबी तू चिन्ता में, पड़ती नहिं चैन जरा मुझको ॥११॥
अब तक मैंने नहिं देखा था तेरा मुख कमल उदास कभी ।
लेकिन क्या हुआ आज तुझको, जो छाइ उदासी अभी अभी ॥१२॥
इतने उपाय करने पर भी, नहिं चिन्ता से तू मुक्त हुई ।
बल्की उपाय के करने से, अधिकाधिक चिन्तायुक्त हुई ॥१३॥
किस कारण है ऐसी चिन्ता, अनुमान नहीं कर पाता हूँ ।
जाने बिन चिन्ता का कारण, मैं हृदय बहुत घबराता हूँ ॥१४॥
क्या किसी कमी से चिन्ता है क्या मिलते पूरे भोग नहीं ।
बतलाओ या फिर यों कहदो, कि "तुम सुनने के योग्य नहीं" ॥१५॥
पति की इन अन्तिम बातों से, भद्रा अधीर होकर बोली ।
क्या नाथ आप यह कहते हो, क्यों मारो हो बोली गोली ॥१६॥
ऐसी क्या बात नाथ होगी, जो तुमको नहीं बताऊँगी ।
यदि छिपाऊँगी तुम से ही तो, फिर किसके आगे गाऊँगी ॥१७॥

पर इस चिन्ता को सुना तुम्हें, मैं दुखी न करना चहती थी ।
बस यही सोचकर स्वामी से, चिन्ता को मैं नहि कहती थी ॥१८॥
देखती हूँ मै स्वामी मेरी चिन्ता जाने बिन हैं चिन्तित ।
इसलिये बात सब कहती हूँ, नहि दुराव रखती हूँ किंचित ॥१९॥
मैने इस घर मे रह करके, मन इच्छित भोजन खाये हैं ।
वस्त्राभूषण जो जो चाहे, वे सब सब मैंने पाये हैं ॥२०॥
इस तरह ऐश आराम किये, स्वामी की कृपा से सब मैंने ।
है चिन्ता बस यह ही मुझको, कुछ बदला दिया नहीं मैंने ॥२१॥
कर्तव्य नही है पत्नी का, बस खाना और मौज करना ।
किन्तू उत्पन कर पुत्ररत्न, उपकारी का बदला भरना ॥२२॥
लेकिन मै कैसी अभागिनी, हूँ अब तक बनी बाँझनी ही ।
इतना सुख-पय पीकर भी मैं अब तक हूँ बनी नागिनी ही ॥२३॥
होती मेरे बदले दुसरी, तो पुत्र रत्न देती ऐसा
पति कुल रूपी नभ में होता, वह अंशुमालि के ही जैसा ॥२४॥
लेकिन मैं अभागिनी ऐसी, पति ऋण से मुक्त न हो पाई ।
धिक्कार है मेरे जीवन को, कर्तव्य न अपना कर पाई ॥२५॥
बस नाथ इसी ऋण-चिन्ता ने, मुझको बेकल कर रक्खा है ।
नहिं चैन कहीं मिलने देती, जीवन भारु कर रक्खा है ॥२६॥
पति का भी शिर पर कर्ज रहा सन्तति सुख भी नहि ले पाई ।
बस यह विचार है हो आता, क्यो मैं इस दुनिया में आई ॥२७॥

मेरे ही कारण पति कुल मे, कुल दीपक बिन तम छावेगा ।
हो वस्तु धरी अंधे गृह मे, बिन दीपक कैसे पावेगा ॥२८॥
ऐसे ही वैभव सब कुछ है, पर कुल दीपक बिन सूना है ।
हो यदि सम्पति सन्तति के साथ, तो सम्पति का फल दूना है ॥२९॥
इसलियें अर्ज यह मेरी है, स्वीकार इसे प्रभु कर लीजे ।
कुल रक्षा का विचार करके पति आप ब्याह दुसरा कीजे ॥३०॥
स्वामी अब इस अभागिनी के, मत आप सहारे रहियेगा ।
कर खोज योग्य पत्नी कि कहीं प्रभु ब्याह दूसरा करियेगा ॥३१॥
उस बहन से होगा पुत्र रत्न, वह मेरा भी कहलावेगा ।
बाँझनी नाम मिट जावेगा, पति कुल भी शोभा पावेगा ॥३२॥
जिसके भाई के सन्तति हो, वह पुरुष न बाँझ कहाता है ।
ऐसेहि सौत की सन्तति से, नारी का दोष मिट जाता है ॥३३॥
यह कथन नीति का है स्वामी, कुछ ध्यान नाथ इस पर दीजे ।
मेरी आशा पूरी करने को, ब्याह आप दुसरा कीजे ॥३४॥

सुन भद्रा की बात को, भद्रा पति सुख पाय ।
मन ही मन कहने लगे, अति ही आनंद पाय ॥११॥

यह पत्नी है या लक्ष्मी है, जो चिन्तित है पति के दुख से ।
पति को सुख देने की खातिर धोती है हाथ अपने सुख से ॥१॥
मेरे कुल की रक्षा कारण, अपने पर सौत मँगाती है ।
होगा दुख सौत से मेरे को, इस बात का ध्यान न लाती है ॥२॥
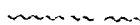
हूँ सद्भागी मै इससे ही, अर्धाङ्गिनि ऐसी पाई है ।
परवाह नही जिसको निज की, पति के सुख की धुन छाई है ॥३॥
भद्रा से कहा—भद्रे प्यारी ! तेरी चिन्ता है निष्कारण ।
जो बात नहीं तेरे वश की, उसमें चिन्ता का क्या कारण ? ॥४॥
सुत-जन्म किसी के हाथ नही, यह पुण्य-योग से है होता ।
होता यदि संचित पुण्य-द्रव्य, क्यो पुत्र न मेरे घर होता ॥५॥
है भाग्य कुभाग्य न तेरा ही, पर साथ में मेरा भी तो है ।
वाँझनी नाम तेरा हि नहीं पर साथ में मेरा भी तो है ॥६॥
तुम अपने पर ऋण कहती हो, पर शेष न ऋण तुम पर मेरा ।
बेवाक हुई तुम तो ऋण से, उल्टे ऋण मुझ पर है तेरा ॥७॥
यह यश वैभव जो देख रहीं, मेरा ही नहीं कमाया है ।
किन्तू थी शक्ति तुम्हारी भी, इससे ही मैने पाया है ॥८॥
तुम तन से साथ न थीं मेरे, पर मन तो मेरे ही सँग था ।
देता था शक्ति मुझे वह ही, उससे ही निखरा यह रँग था ॥९॥
यदि चाहे पत्नी तो पति का, अति ही सम्मान बढ़ा सकती ।
यदि चाहे वह तो मिट्टी मे, पति का सम्मान मिला सकती ॥१०॥
अपमान तथा सम्मान दोउ हैं घर की तिरिया के कर में ।
होवेगी भूल समझना यह, कि वे तो रहती हैं घर में ॥११॥
घर मे रह कर ही वे चाहे, तो स्वर्ग यहीं पर कर सकती ।
अन्यथा हाथ उनके यह भी, पति घर को नर्क बना सकती ॥१२॥

मतलब यह कि सब जगह मेरा, सम्मान है तेरी शक्ती से ।
मानते लोग हैं मुझे बड़ा, तेरी ऊँची पति-भक्ती से ॥१३॥
मैंने देखा है राग रंग शृंगार जो होते थे तेरे ।
दुसरों के लिये न होते थे, थे किन्तु रिझाने को मेरे ॥१४॥
तन से मन से निशिदिन मेरी, खिदमत तुम करती रहती हो ।
फिर भी मेरा ऋण तुम पर है, यह बात किस तरह कहती हो ॥१५॥
केवल बेटे की आशा से मैं व्याह न दुसरा कर सकता ।
होते इक पत्नी के घर में यह अनीति मैं नहिं कर सकता ॥१६॥
क्या मालुम निकले वह कैसी, कैसा स्वभाव उसका होगा ।
कह सकता कौन कि निश्चय ही, उस पत्नी के बेटा होगा ॥१७॥
फिर इस सुरपुर-सी गृहस्थी को, क्यों नर्क बनाने जाऊँ मैं ।
सुख से दोनो रहते हैं फिर, क्यो सिर पर आफत लाऊँ मैं ॥१८॥
मिलना होगा सन्तति सुख तो, वह तुमसे ही मिल जावेगा ।
अन्यथा करूँ लाखो विवाह, तब भी वह सुख नहि आवेगा ॥१९॥
इसलिये त्याग कर चिन्ता को, चित दो सुमरन मे ईश्वर के ।
चिन्ता उनकी रहती न कभी, होते जो भक्त परमेश्वर के ॥२०॥
जो कार्य हैं प्यारे ईश्वर को, दिन रात वही तुम किया करो ।
दीनो दुखियों की सेवा में, तन धन सह चित को दिया करो ॥२१॥
तरह तुम्हारी ही मैं भी, अधिकाधिक कार्य करूँगा ये ।
करता था अबतक थोड़े ही, पर अब दिन रात करूँगा मैं ॥२२॥

होगी यदि चिन्ता दूर तो बस, केवल यह उपाय करने से ।
इसके सिवाय कोइ मार्ग नहीं, कुछ लाभ नहीं यों मरने से ॥२३॥

धर्म सा नहिं कोई बलवान । धर्म मे होती शक्ति महान ॥

कैसा भी हो कष्ट धैर्य से, करे धर्म का ध्यान ।
कहाँ गये वे कष्ट नहीं है यह भी पड़ना जान ॥ ध० ॥१॥
भवसागर के घोर दुःख से, जब घबराते प्राण ।
ऐसे समय मे एक धर्म ही जीव को देता त्राण ॥ ध० ॥२॥
लेना देना पुत्र रोग दुख, मान और अपमान ।
ये सब चिन्ता मिट जावे यदि करो धर्म सम्मान ॥ ध० ॥३॥
धर्म सामने उपाय दूसरे, है सब धूरि समान ।
ऐसा समझ धर्म को 'दीक्षित' हृदय मे दो स्थान ॥ ध० ॥४॥

पति के इस उपदेश से, चिन्ता हो गइ नाश ।
प्रेम कृपा लखि आप पर, भद्रा हिय हुलास ॥ १२ ॥

हो गइ नाश चिन्ता सारी, भद्रा मन मे अति सुख पाई ।
अपने पर पति का प्रेम निरख, हिरदै मे वह अति हर्षाई ॥ १ ॥
दम्पति पहले कि अपेक्षा से अब अधिक धर्म को करते हैं ।
सन्तान की चिन्ता करके वे, अब साम न लम्बी भरते हैं ॥ २ ॥
आकांक्ष रहित करते जो धर्म, कुछ कमी न उनके रहती है ।
सुख पूरे करने को उनके, सुरगण को चिन्ता रहती है ॥ ३ ॥
कुछ समय बीतने पर यों ही, भद्रा ने एक स्वप्न देखा ।
शाली का हरा भरा फूला और फला खेत उसने देखा ॥ ४ ॥

मन में अति हर्ष हुआ उसको, चटपट स्वामी के पास गई ।
देखा था उसने जो स्वप्ना वह सब स्वामी से कहत भई ॥ ५ ॥
गौभद्र ने सुन भद्रा स्वप्ना, मन में अति ही आनॅद पाया ।
बोले-भद्रे ! अब खुशी करो, चिन्ता का अन्त समय आया ॥ ६ ॥
लालसा तुम्हारे मन में थी, वह पूरी होती दिखती है ।
करने से ध्यान धर्म का फिर, नहिं कोई चिन्ता रहती है ॥ ७ ॥

धर्म जाग्रणा यों करत, करी रात निःशेष ।
स्वप्न गणक को भोर ही. पठवाया सन्देश ॥ १३ ॥

आने पर उनसे स्वप्न कहा, पूछा क्या फल इसका होगा ।
गणकों ने गुण कर स्वप्ने को, यों कहा—पुत्र इनके होगा ॥ १ ॥
ज्यों शाली सबका जीवन है, वैसा ही जीवन वह होगा ।
ज्यों अन्न में शाली है ऊँची, वैसा ही नर में वह होगा ॥ २ ॥
माँ बाप का वह सेवक होगा, और पूरा धर्म धीर होगा ।
होगा स्वभाव का वह स्वतंत्र, और पूरा शूर वीर होगा ॥ ३ ॥

सुन यह शुभ फल स्वप्न का, मन में आनॅद पाय ।
स्वप्न गणक को मान दे, बिदा किया हर्षाय ॥१४॥
स्वप्नोत्सव होने लगा, बाजे गाजे गीत ।
दम्पति ने वह सब किया, जो थी कुल की रीत ॥ १५ ॥

ससार की कैसी रचना है, कोइ जगता कोइ सोता है ।
कोइ नाच रंग कर हँसता है, कोइ फूट फूट कर रोता है ॥ १ ॥

होगी यदि चिन्ता दूर तो बस, केवल यह उपाय करने से ।
इसके सिवाय कोइ मार्ग नहीं, कुछ लाभ नही यो मरने से ॥२३॥

धर्म सा नहि कोई बलवान । धर्म मे होती शक्ति महान ॥

कैसा भी हो कष्ट धैर्य से, करे धर्म का ध्यान ।
कहाँ गये वे कष्ट नहीं है यह भी पड़ता जान ॥ ध० ॥१॥
भवसागर के घोर दुःख से, जब घबराते प्राण ।
ऐसे समय मे एक धर्म ही जीव को देता त्राण ॥ ध० ॥२॥
लेना देना पुत्र रोग दुख, मान और अपमान ।
ये सब चिन्ता मिट जावे यदि करो धर्म सम्मान ॥ ध० ॥३॥
धर्म सामने उपाय दुसरे, है सब धूरि समान ।
ऐसा समझ धर्म को 'दीक्षित' हृदय मे दो स्थान ॥ ध० ॥४॥

पति के इस उपदेश से, चिन्ता हो गइ नाश ।
प्रेम कृपा लखि आप पर, भद्रा हिय हुल्लास ॥ १२ ॥

हो गई नाश चिन्ता सारी, भद्रा मन मे अति सुख पाई ।
अपने पर पति का प्रेम निरख, हिरदै मे वह अति हर्षाई ॥ १ ॥
दम्पति पहले कि अपेक्षा से अब अधिक धर्म को करते हैं ।
सन्तान की चिन्ता करके वे, अब साँस न लम्बी भरते हैं ॥ २ ॥
आकांक्ष रहित करते जो धर्म, कुछ कमी न उनके रहती है ।
सुख पूरे करने को उनके, सुरगण को चिन्ता रहती है ॥ ३ ॥
कुछ समय बीतने पर यों ही, भद्रा ने एक स्वप्न देखा ।
शाली का हरा भरा फूला और फला खेत उसने देखा ॥ ४ ॥

मन में अति हर्ष हुआ उसको, चटपट स्वामी के पास गई ।
देखा था उसने जो स्वप्ना वह सब स्वामी से कहत भई ॥ ५ ॥
गौभद्र ने सुन भद्रा स्वप्ना, मन में अति ही आनँद पाया ।
बोले-भद्रे ! अब खुशी करो, चिन्ता का अन्त समय आया ॥ ६ ॥
लालसा तुम्हारे मन मे थी, वह पूरी होती दिखती है ।
करने से ध्यान धर्म का फिर, नहि कोई चिन्ता रहती है ॥ ७ ॥

धर्म जागरणा यों करत, करी रात निःशेष ।
स्वप्न गणक को भोर ही, पठवाया सन्देश ॥ १३ ॥

आने पर उनसे स्वप्न कहा, पूछा क्या फल इसका होगा ।
गणकों ने गुण कर स्वप्ने को, यों कहा—पुत्र इनके होगा ॥ १ ॥
ज्यों शाली सबका जीवन है, वैसा ही जीवन वह होगा ।
ज्यों अन्न में शाली है ऊँची, वैसा ही नर में वह होगा ॥ २ ॥
माँ बाप का वह सेवक होगा, और पूरा धर्म धीर होगा ।
होगा स्वभाव का वह स्वतंत्र, और पूरा शूर वीर होगा ॥ ३ ॥

सुन यह शुभ फल स्वप्न का, मन में आनँद पाय ।
स्वप्न गणक को मान दे, विदा किया हर्षाय ॥१४॥
स्वप्नोत्सव होने लगा, बाजे गाजे गीत ।
दम्पति ने वह सब किया, जो थी कुल की रीत ॥ १५ ॥

संसार की कैसी रचना है, कोइ जगता कोइ सोता है ।
कोइ नाच रंग कर हँसता है, कोइ फूट फूट कर रोता है ॥ १ ॥

अनुसार इसी के भद्रा घर तो खुशी के बाजे बाज रहे ।
लेकिन धन्ना दुखिया के घर, है विपति के बादल गाज रहे ॥ २ ॥
की उस धन्ना बेचारी ने, संगम की सेवा तन मन से ।
दी पड़ोसियों ने भी सहायता, तरह तरह की भेपज से ॥ ३ ॥
पर मौत के आगे नहि कदापि, औषध सेवा की चलती है ।
जो कुछ होनी होती है वह, नहि उपाय से भी टलती है ॥ ४ ॥
हो जावे संगम स्वस्थ यदी, तो वह फल कैसे पावेगा ।
जो दान मुनी को देने से, सुख इसकी खातिर आवेगा ॥ ५ ॥
जो मिले इसी भव मे वह सुख, तो दुखदायक हो जावेगा ।
जैसे दुखदायिनि खीर हुई, इससे पर भव मे पावेगा ॥ ६ ॥
उस फल मे भेंट कराने को ही, संगम को यह रोग हुआ ।
दुसरा भव पाने की खातिर ही, उसे मृत्यु का योग हुआ ॥ ७ ॥

गूजर तन को छोड़कर, सगम ने किया काल ।
वर्णन होवे किस तरह, धन्ना का दुख हाल ॥ १६ ॥

चौतरफ भरा हो जल जिसमे दिखता,नहिं कहीं किनारा हो ।
ऐसे समुद्र मे जिसे एक, छोटी तरणी ही सहारा हो ॥ १ ॥
उसके ही सहारे सागर मे, जाने की तट पर आशा हो ।
लेकिन वह बीच मे डूब जाय, तब कैसा दुःख-निराशा हो ॥ २ ॥
यों जग सागर मे धन्ना को, संगम का सिर्फ सहारा था ।
उसकी आशा तरणी सहाय मे पाना उसे किनारा था ॥ ३ ॥

हो गई आज वह असहाया, आशा की तरणी डूब गई ।
थी खड़ी सहारे से जिसके, वह ही लकड़ी है टूट गई ॥ ४ ॥
सिर धुन-धुन कर निज हाथों से, सुत के गुण को वर्णन करके ।
है करने लगी रुदन, धन्ना, अपने दुख को सुमरण करके ॥ ५ ॥
धन्ना के विलाप को सुन कर, सब पड़ोस के दौड़े आये ।
हमदर्दी दिखला धन्ना से, सबने दो आँसू टपकाये ॥ ६ ॥
फिर धैर्य बँधाने लगे उसे, समझाया जग ही ऐसा है ।
जो आता है सो जाता है, इसका तो यह ही लेखा है ॥ ७ ॥
हाँ, पुत्र शोक है असह्य पर, रोने से वह नहि मिट सकता ।
मर भी जावे कोइ रो रो कर, पर मरा हुआ नहि जी सकता ॥ ८ ॥
इसलिये करो धीरज धारण, बस इससे ही दुख जावेगा ।
विश्वास रखो संगम बालक, अच्छी ही गति को पावेगा ॥ ९ ॥
देखी है हमने धर्म-भक्ति, इस छोटे बालक में जो थी ।
मुनि को वह खीर दान कर दी, रोने से इसे मिली जो थी ॥१०॥
अनुमान हमारा यह है कि, संगम भद्रा घर जावेगा ।
गौभद्र का अंगज बन करके, वह विशाल सम्पति पावेगा ॥११॥
है मरा आज ही यह बालक, आज ही बजे बाजे उनके ।
इससे अनुमान यही है कि यह जावेगा घर भद्रा के ॥१२॥

अचरज में धन्ना हुई, सुन कर यह अहवाल ।
पड़ोसियों ने सब कहा, मुनि आने का हाल ॥ १७ ॥

बेटे की दान-शीलता सुन, भद्रा का दुख कुछ बढ़ आया ।
लेकिन सबने समझा करके, धन्ना को धीरज बँधवाया ॥ १ ॥
सिवाय धीरज रखने के, क्या धन्ना का वश चलता था ।
धीरज तजकर मर जाने से भी तो संगम नहि मिलता था ॥ २ ॥

विवश हो धन्ना चुप रही, उर में धीरज धार ।
पड़ोसियों ने मिल किया, संगम शव सस्कार ॥ १८ ॥

कुछ पड़ोस की महिलाएँ मिल, चर्चा आपस में करती हैं ।
है विषय दान के फल का ही, इस ही पर बातें करती हैं ॥ १ ॥
बोली कुमती सुन सुमति बहन, तू धोखा देती है सबको ।
कर कर के प्रशंसा संगम की, थी कहती मंगलीक मुनि को ॥ २ ॥
खूब बड़ाई करती थी, तू सदा दान की जी भर कर ।
पर देख दान का दुष्फल तू, निकला घर से संगम मरकर ॥ ३ ॥
मुनि आना और दान देना, प्रत्यक्ष देख तू खोटा है ।
यह दुष्फल होते लोगो को, क्यों देती झूठा धोखा है ॥ ४ ॥

कुमती की इस बात से, कुछ महिलाएँ और ।
सहमत हो देने लगीं, इसी बात पर जोर ॥ १९ ॥

बोली सुमती–सुन कुमति बहन, यह झूठ बात तू कहती है ।
बतला कर बात ऊपरी ही, लोगो को धोखा देती है ॥ १ ॥
हैं मंगलीक मुनि तो हरदम, फल सदा दान का शुभ ही है ।
नहिं मरा दान के फल से वह, मरने की बात तो दुसरी है ॥ २ ॥

इस भव मे दान का फल पाता, सोनैयो की वर्षा होती ।
तो सुख के वदले दुख होता, इसके सिर पर आफत होती ॥ ३ ॥
यदि भरो सेर के वर्तन मे, मन भर तो कैसे मावेगा ।
दो रोगी को गरिष्ट भोजन, तो पचा किस तरह पावेगा ॥ ४ ॥
ऐसे ही संगम था गरीव, रहने को घर भी तो नहिं था ।
होती वर्षा सोनैयो की, तो कहो कहाँ पर वह रखता ॥ ५ ॥
रत्ता करता कैसे उनकी, उपभोग किस तरह से करता ।
अनजान था वह इन वातो से, इससे उल्टे दुख मे पड़ता ॥ ६ ॥
अव कहोगी फल क्या मिला उसे, जो दान दिया मुनि को उसका ।
होता है दान का शुभ फल तो, कारण क्या उसके मरने का ॥ ७ ॥
वस मरना, यही देखती हो, पर आगे कुछ वढ़ कर देखो ।
मर कर है वह किस ठौर गया, इसका अनुमान तो कर देखो ॥ ८ ॥
मर कर ही पैदा होता है, यह वात तो तुम भी मानोगी ।
रोता है एक तभी दुसरा, हँसता है यह तो मानोगी ॥ ९ ॥
संगम भी मरा आज ही है, भद्रा घर आज वजे वाजे ।
हो सकता है कि संगम ही, जा उनकी संपति पर राजे ॥१०॥
केवल मरने को देख कर ही, मत वुरा दान को वतलाओ ।
ऐसे मंगल स्वरूप मुनि के, आने को वुरा न वतलाओ ॥११॥
किन्तू फल देखो अन्त तलक, फिर निर्णय देना अच्छा है ।
विन जाने कहना ठीक नहीं, यह झूठा है या सच्चा है ॥१२॥

सबने माना कथन यह, हटी कुमति की बात ।
सब रमणी राजी हुई, कुमती हुई उदास ॥ २० ॥

तजकर गूजर तन को संगम, भद्रा के गर्भ मे आया है ।
दम्पति थे जैसे धर्म शील, सुत गर्भ मे वैसा पाया है ॥ १ ॥
गर्भ-स्थिति को भद्रा ने जान, पति को खुशखबर सुनाई है ।
गौभद्र सेठ के रोमरोम मे अति खुशहाली छाई है ॥ २ ॥
गर्भोत्सव लगे मनाने वे, दीनो को खुब ही दान दिया ।
सज्जन स्नेही सम्बन्धी का, सब तरह से उनने मान किया ॥ ३ ॥
भद्रा अति चौकशी रहती, खाने पीने अरु चलने मे ।
हो गर्भ को कष्ट न किसी तरह, यह ध्यान सदा रखती मनमे ॥ ४ ॥
इस समय भावना भद्रा की, बस धर्म-मार्ग मे जाती है ।
इसके सिवाय नहि कोइ बात, किंचित भी उसे सुहाती है ॥ ५ ॥
धर्मी जब गर्भ में होता है, तब धर्म-भावना देता है ।
पापी यदि गर्भ मे होता है, प्रेरणा पाप की करता है ॥ ६ ॥
संगम धर्मी कुछ नही है कम, है दिया दान मुनि को जिसने ।
पाई अपूर्व वस्तू फिर भी, नहिं दान मे लोभ किया जिसने ॥ ७ ॥
इस कारण भद्रा की तबियत, भावना धर्म की ध्याती है ।
स्वप्ने में भी या भूल चूक कर पाप की ओर न जाती है ॥ ८ ॥

पालन करती गर्भ का, भद्रा सह आनन्द ।
गर्भ-वृद्धि हो रही यों, ज्यों द्वितीया का चन्द ॥२१॥

पाठकगण ! वह ही संगम जो, दिन भर वच्छो को चराता था ।
इतना करके भी खाने को भर पेट अन्न नहिं पाता था ॥ १ ॥
वह दान मुनी को देने से, देखो कैसा वन जावेगा ।
सम्पदा देखने को उसकी, श्रेणिक नृप चल कर आवेगा ॥ २ ॥
यह प्रताप सब मुनि चरणो का उनकीही कृपा का यह फल है ।
मुनि-भक्ति कि महिमा है ऐसी, जो कुछ होवे वह ही कम है ॥ ३॥

सन्त को लो मत छोटा जान, सन्त ही से होते भगवान ।

महाव्रतों को दुख सह पालें, तनिक न आरत ध्यान ।
स्वश्रम से जो प्राप्त किया वह तुम्हे सुनाते ज्ञान ॥ १ ॥
पहिले तुमको नहीं सुनाते, जब लें खुद पहिचान ।
निज आतम से अनुभव करके देते ज्ञान का दान ।। सं० ॥ २
सन्त जनो की सेवा करके दान मान सम्मान ।
'दीक्षित' क्षुद्र जीव भी करते, निज आतम कल्याण ॥सं० ॥ ६
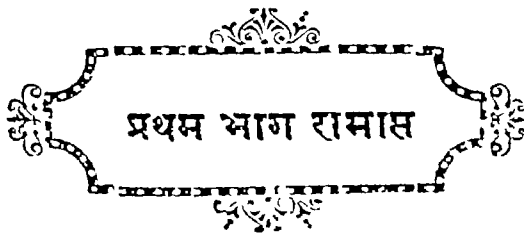
शेष वृत्तान्त दूसरे भाग में पढ़िये ।

पुस्तक मिलने का पता—

१—शंकरप्रसाद दीक्षित (जहाँ पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज विराजमान हों।)

२—बाबू शिखरचन्दजी अकाउण्टेण्ट महकमे डाक्टरी बीकानेर (राजपूताना)

३—श्री साधुमार्गी-जैन पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम (मालवा)

४—श्री छोटेलालजी यति जैन प्रकाश पुस्तकालय, सुजानगढ़ (राजपूताना)
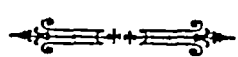
जीतमल लूणिया द्वारा
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर में मुद्रित

आदर्श-क्षमा

अथवा

मुनि श्री गजसुकुमार ।

(१)

उस अनन्त जगदीश्वर को मैं सादर शीश नमाता हूँ ।
जिसके एक भक्त की करणी इस पुस्तक में गाता हूँ ॥
होती कैसी क्षमा भक्त में उसके यह बतलाता हूँ ।
'सागर गागर बीच भरन का' दुस्साहस दिखलाता हूँ ॥

(२)

महाराज श्रीकृष्ण राज्य द्वारिका नगर में करते थे ।
राज्य निवासी सभी तरह से सुख की साँसें भरते थे ॥
प्रभु नेमी उपदेश शान्ति का देते वहाँ विचरते थे ।
लोग पाप की बात ध्यान में लाने से भी डरते थे ॥

(३)

सभी तरह था धनी नगर दुख-शोक न वहाँ पाँव धरता ।
कैसे जाता वहाँ जहाँ नृप नीति-धर्म पालन करता ॥
साथ ही जहाँ प्रभु नेमिनाथ का धर्मचक्र चलता रहता ।
दुख शोक पाप के पुञ्जों को जो दावानल-सम था दहता ॥

(४)

महाराज श्रीकृष्ण नित्य माता वन्दन जाया करते ।
वे राज-कार्य तब करते थे जब वन्दन कर आया करते ॥
पितु माता का, विनीत-बेटा अपने को ऋणी मानता है ।
वन्दना विनय उनका करना निज का कर्त्तव्य जानता है ॥

(५)

वे गये एक दिन नित्य भाँति माताजी को प्रणाम करने ।
यद्यपि कर चुके प्रणाम मगर आशीष नहीं पाई उनने ॥
चिन्ता होगई कृष्ण उर में अपराध किया है क्या मैंने !
प्रति दिन माँ आशिष देती थी पर आज न देखा भी इनने !

(६)

चिन्तित हो देखा माता को तो अति उदास वह देख पड़ी ।
छाया मलीन मुख पर छाई नयनो में थी जल धार भरी ॥
यों पूछा सहम कृष्णजी ने—इस तरह उदासी क्यों छाई ?
बतलाओ माँ ! क्यों दुखित हुई किस बात की चिन्ता है आई ?

(७)

मुझपर भी रुष्ट दीखती हो अपराध किया है क्या मैंने ?
कुछ आशीर्वाद न दिया मुझे अपमान किया है क्या मैंने ?
क्या और किसी ने कहा सुना जो इतना दुःख तुम्हें छाया ?
याचक हूँ यही जानने का किस कारण चेहरा कुम्हलाया ?

(८)

धिक्कार मुझे है, माता का दुःख दूर न मैं यदि कर पाऊँ ।
धिक्कार है मेरी प्रभुता को यदि माँ को सुखी न कर पाऊँ ॥
धिक्कार है मेरे वैभव को यदि माता हित न लगा पाऊँ ।
धिक्कार अनेक वार पद को जननी ऋण अगर भूल जाऊँ ॥

(९)

हे माता ! जल्दी वतलाओ मैं अधीर होता जाता हूँ ।
किस कारण दुःख हुआ तुमको यह जाने विन अकुलाता हूँ ॥
इस वालक पर हो यही दया अपना दुःख कारण वतलाओ ।
तन दे भी दुःख मिटाऊँगा अब कहो विलम्ब मती लाओ ॥

(१०)

सुन कृष्ण प्रार्थना उमड़ पड़ा पहले तो दुःख देवकी का ।
जल-धार वहाने लगे नयन भर आया गला देवकी का ॥
पर धीरज रुँधे कण्ठ से वे वोलीं—वेटा क्या वतलाऊँ ।
कुछ मुझसे कहा न जाता है किस तरह दुःख अपना गाऊँ ॥

(११)

तुम सा सुपुत्र अपराध करे यह कैसे सम्भव हो सकता।
अपमान करे निज माता का कैसे सुपुत्र वह हो सकता॥
क्या कहे सुने कोई उसको जिसके तुम ऐसा बेटा हो।
इस बात का मुझे गर्व है कि यदि हो तो ऐसा बेटा हो॥

(१२)

सब तरह सुखी हूँ मैं फिर भी सद्भागिन नहीं कहा सकती।
हाँ, एक भिखारिन से ज्यादा दुर्भागिन मैं कहला सकती॥
वह भिखारिनी निज बालक का पालन पोषण तो करती है।
उसकी क्रीड़ा को देख-देख घर में प्रमोद तो भरती है॥

(१३)

पर मैं बन सात पुत्र की माँ माता-कर्त्तव्य न कर पाई।
बस उनको जन्म दिया मैंने कुछ काम न मैं उनके आई॥
आशा यह पूरी नहीं हुई कि गोद में उनको बैठाती।
छाती से उनको लगा-लगा मुख चूम-चूमकर दुलराती॥

(१४)

छः पुत्र प्रथम जो हुए उन्हे मैं तो थी मृतक समझती ही।
जब याद हो आती थी उनकी मैं रहती सदा झुलसती ही॥
नेमी स्वामी से प्रकट हुआ वे मरे नहीं पर जीवित हैं।
सुलसा घर पल, दीक्षा धारी, प्रभु चरणों में सुर सेवित हैं॥

(१५)

इन नयनों से मैं देख आई वे संयम पालन करते हैं ।
तुम से ही रूप रंग में हैं निज जन्म सफल वे करते हैं ॥
साथ ही कोंख को भी मेरी वे धन्य बनाये देते हैं ।
सुर-दुर्लभ मोक्ष-सम्पदा को वे निकट बुलाये लेते हैं ॥

(१६)

यह सब तो है पर बाल-केलि उनकी मैं नहीं देख पाई ।
उनका वह ठुमुक-ठुमुक चलना नयनों से नहीं देख पाई ॥
माता ज्यों गोदी लेती है मैं गोद न उनको ले पाई ।
क्या कहूँ और स्तन भी तो मैं उन्हें न मुख में दे पाई ॥

(१७

इस तरह गये ये छ. बालक जन्मे सातवें तुम्हीं आकर ।
पैदा होते ही रख आये पतिदेव तुम्हें गोकुल जाकर ॥
बालकपन बीता तुम्हें वहीं देखी सब केलि यशोदा ने ।
इच्छा थी जिसे सींचने की पाई वह बेलि यशोदा ने ॥

(१८)

यों होकर सात पुत्र की माँ सुख नहीं एक से भी पाया ।
सूनी यह रही गोद मेरी छाती से कभी न चिपटाया ॥
आँखें यह रहीं तरसती ही बालकपन नहीं देख पाया ।
सन्तति-सुख-शून्य रहे ये कर, बालक को कभी न नहलाया ॥

(१९)

हे कृष्ण ! तुम्हारी अभागिनी यह माता यों दुख करती है ।
सन्तान प्रसव से लाभ हुआ क्या ? इस चिन्ता में मरती है ॥
हाँ, विषय-भोग सन्तान-प्रसव का पाप और सिर लाद लिया ।
बालक की करुणा रूप पुण्य कर वदला मैंने नहीं दिया ॥

(२०)

बालक होने पर मात-पिता जन्मोत्सव खूब मनाते हैं ।
ले भेंट द्रव्य अति हर्ष सहित सज्जन सम्बन्धी आते हैं ॥
आतीं बधाइयाँ घर-घर से गायकगण गाना गाते हैं ।
बन्दीजन विरद सुनाते हैं वाद्यंत्री वाद्य वजाते हैं ॥

(२१)

नव-जात बाल के मात-पिता करते संस्कार सभी विधि से ।
सन्तुष्ट सभी को करते हैं दे भोजन-छाजन या निधि से ॥
बालक की क्रीड़ा देख-देख आनन्द हृदय में भरते है ।
सब तरह के लाड़ लड़ा उससे निज जन्म सफल वे करते हैं ॥

(२२)

हे कृष्ण ! मुझे तो एक बार भी योग न ऐसा मिल पाया ।
बेटे तो सात जने लेकिन सबको बन्दीगृह में जाया ॥
कैसे उत्सव कर सकती थी पति सहित बन्द थी ताले में ।
उर की उर में ही भस्म हुई सारी अभिलाषा ताले में ॥

(२३)

मुझ-सी तो दुखी भिखारिन भी जग में ना कोई होवेगी।
चाहे भूखी रहती हों पर सन्तति को ले वे सोवेंगी।
इस ओर से रही तिमिर में मैं जैसे हूँ बनी बाँझनी ही।
यों बालक प्रसव किये मैंने करती ज्यो नहीं नागिनी भी॥

(२४)

यों कहकर लगी देवकी फिर निज अंचल से मुँह ढक रोने।
नयनों से बहा-बहा आँसू छाती अरु पैर लगी धोने॥
बोले तब कृष्ण अरी माता, तुम इतना दुःख क्यों करती हो ?
इस किंचित् बात के कारण तुम ऐसे धीरज क्यों तजती हो !

(२५)

इच्छा तब पूरी करने को लो मैं बालक बन जाता हूँ।
बालक जो खेल दिखाता है वह मैं तुमको दिखलाता हूँ॥
सब लाड़ लड़ालो बालक के जो-कुछ चाहो सो मेरे से।
अभिलाषा सब पूरी करलो जो-कुछ मन में हों मेरे से॥

(२६)

कहकर यों कृष्ण बने बालक जा बैठे गोदी माता के।
तुतला-तुतला बोलने लगे कच खींच-खींचकर माता के॥
फिर उतर गोद से ठुमुक-ठुमुक आँगन में लगे दौड़ने वे।
जो मिली सामने चीज़ उसे ले-लेकर लगे फोड़ने वे॥

(२७)

देवकी, कृष्ण को बालरूप में देख हृदय अति हर्षाई ।
ले गोदी चिपटा छाती से स्नानागार में ले आई ॥
मुख चूम-चूमकर प्रेम सहित मल तेल कृष्ण को नहलाया ।
बालक के सब गहने-कपड़े मँगवाकर उनको पहनाया ॥

(२८)

बैठाकर फिर अपनी गोदी देवकी ने भोजन मँगवाया ।
दे छोटे-छोटे ग्रास उन्हें निज कर से भोजन करवाया ॥
सब समय कृष्ण भी बालक की-सी क्रीड़ा करते जाते थे ।
करता बालक जो-जो लीला वह लीला करते जाते थे ॥

(२९)

कुछ समय तो बीता इसी तरह सोचा श्रीकृष्ण ने फिर मन में ।
माता का प्रेम न कम होगा चाहे मैं रहूँ इसी फन में ॥
लेकिन इस भाँति बना बालक बैठा कब तक रह सकता हूँ ।
है भार राज्य का जो मुझ पर उसको किस पर रख सकता हूँ ॥

(३०)

यों सोच कृष्णजी बोले-माँ, मुझको तो भूख लगी पय दे ।
क्या कमी देवकी के घर थी ? वह बोली-बेटा यह पय ले ॥
चख दूध कृष्णजी बोले-माँ, यह नहीं है किंचित भी मीठा ।
इसको कैसे पी सकता हूँ ? इसमें डलवा दे कुछ मीठा ॥

(३१)

देवकी ने मँगवाकर शक्कर उस दूध में डाल उसे घोली।
ले बेटा, अब यह मीठा है पीले, यों प्रेम सहित बोली॥
मुँह लगा दूध से वे बोले, माता यह ज्यादा है मीठा।
अच्छा लगता यह नहीं मुझे कम कर दे इसमें से मीठा।

(३२)

तब कहा देवकी ने इसमें पय और मिलाये देती हूँ।
ऐसा कर इसकी मिठास में मैं अन्तर लाये देती हूँ॥
बोले श्रीकृष्ण नहीं माता, इसमें मत और दूध डालो।
इसमें डाली उसमें से ही कुछ शक्कर बाहर कर डालो॥

(३३)

बोली यह बात असम्भव है ऐसा है कैसे हो सकता?
मिल चुका दूध में जो मीठा वह बाहर कैसे हो सकता?
दूसरा दूध मैं देती हूँ उसमें डालूँगी कम मीठा।
इसको दे दो वापस मुझको मत पियो है यदि ज्यादा मीठा॥

(३४)

यों बोले कृष्ण—नहीं माता, यह दूध न वापस देऊँगा।
इसको लौटाकर बदले में मैं दूजा दूध न लेऊँगा॥
यदि पिऊँगा तो मैं इसको ही लेकिन जब मीठा कम होगा।
कम करो इसी में की शक्कर बदला या मेल नहीं होगा॥

(३५)

इस तरह कृष्ण ने हठ पकड़ी समझाया वहुत देवकी ने।
वतलाकर खेल तमाशे भी वहलाया वहुत देवकी ने॥
मँगवा दीं उन्हें वहुत चीजें लेकिन हठ तजी नहीं उनने।
सव व्यर्थ उपाय देख अपने देवकी लगी उनसे कहने॥

(३६)

हे कृष्ण, तुम्हारी इस हठ का सारा कारण मैंने जाना।
मैं समझी तुमको जाना है इस कारण यह उपाय ठाना॥
लेकिन यदि जाना ही है तो यों कहो कि जाना है मुझको।
हठ ठान इस तरह की अनुचित हैरान कर रहे क्यों मुझको॥

(३७)

जव नहीं भाग्य ही में मेरे देखना वदा सुख वालक का।
तो तुम कैसे सुख दे सकते यों रूप वनाकर वालक का॥
वालक सुख नसीव मे होता तो प्रसव समय में ही पाती।
क्यों वन्दीगृह में सुत जनकर इस तरह आज मैं विलखाती॥

(३८)

जव पिता के घर में ही थी मै तव कहा था मुनि ऐवन्ता ने।
'देवकी के आठ पुत्र होंगे' भाषा था मुनि ऐवन्ता ने॥
इस मुनि-वाणी को ही झूठी मम भाग्य वनाये देता है।
तो और उपाय कहो उसके सन्मुख कैसे चल सकता है॥

(३९)

यों कहकर लगी देवकी फिर वैसे ही विलख-विलख रोने ।
पहले-सी लगी भिगाने वह आँसू-जल से अंचल कोने ॥
तज बाल रूप श्रीकृष्ण लगे धीरज दे माता समझाने ।
दृष्टान्त अनेकों इस जग के माता को लगे वे बतलाने ॥

(४०)

पर युक्ति न कोई चक्री* की माता के सन्मुख चल पाई ।
तदबीर बहुत-सी की उनने लेकिन कुछ काम नहीं आई ॥
हो विवश कृष्णजी यों बोले-अच्छा माता मैं जाता हूँ ।
लेकिन तुम धीरज धरो हृदय तुमको विश्वास दिलाता हूँ ॥

(४१)

जाकर उपाय वह करता हूँ जिससे भाई जन्मे तुम से ।
जो कुछ बाक़ी है अभिलाषा कर सको वे पूरी सब उसमें ॥
ऐसे उपाय में माँ, जब तक मैं नहीं सफलता पाऊँगा ।
प्रण करता हूँ यह मैं तब तक तुमको मुँह नहीं बताऊँगा ॥

(४२)

यह कृष्ण प्रतिज्ञा सुन करके देवकी हृदय धीरज आया ।
कर कृष्ण प्रशंसा फिर उनको छाती से अपनी चिपटाया ॥
माता को प्रणाम कर चक्री चल पौषधशाला में आये ।
बैठे वे तेला ठान ध्यान में हरिणगवेशी को लाये ॥

---

* सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले कृष्ण

(४३)

निर्विघ्न समाप्त हुआ तेला तब देव कृष्ण सन्मुख आया ।
बोला 'अभिलाष पूर्ण होगी चिन्ता छोड़ो' यों समझाया ॥
सुर वाणी सुन श्रीकृष्ण हृदय आनन्दित हो घर को आये ।
सब समाचार कह माता से आनन्द के बाजे बजवाये ॥

(४४)

हुई देवकी गर्भवती यह जान हुआ उत्सव भारी ।
देते थे बधाई आ-आकर द्वारिका नगर के नर नारी ॥
आया जब समय पुत्र जन्मा सुन्दर सुकुमार देवकी ने ।
सब भाँति से अनुपम है ऐसा जन्मा नर-रत्न देवकी ने ॥

(४५)

देवकी हृदय का हर्ष नहीं वर्णन मे कवि के आ सकता ।
जो परे है उपमा सीमा से उसको कवि कैसे गा सकता ?
सन्तान का इच्छुक हो कोई सन्तति से जन्म सफल माने ।
पाने पर हर्ष उसे कैसा होता यह तो वह ही जाने ॥

(४६)

'भाई जन्मा' यह सुनते ही श्रीकृष्ण हर्ष से उछल पड़े ।
आभूषण पुरस्कार बाँटे बहुमूल्य बहुत से रत्न जड़े ॥
गाजे बाजे आदिक उत्सव अति होने लगा द्वारिका में ।
वसुदेव ने ऐसा दान दिया कोई दीन न रहा द्वारिका में ॥

(४७)

आते थे बधाइयाँ देने यादवगण आनन्दित हो-हो ।
श्रीकृष्ण से पुरस्कार पाते जिस लायक होते थे जो-जो ॥
छाया है नगर हर्ष इतना जो वर्णन-शक्ति से बाहर है ।
जन्मोत्सव ऐसा हुआ कि जो कल्पना में आना दुष्कर है ॥

(४८)

जन्मोत्सव समाप्त होते ही नामोत्सव का अवसर आया ।
श्रीकृष्ण ने आदर दे-देकर पुरजन-परिजन को बुलवाया ॥
सबको बैठाकर प्रेम सहित सम्मान से भोजन करवाया ।
फिर सभामध्य शुभ-मुहूर्त में शुभ-नाम अनुज का धरवाया ॥

(४९)

लक्षण युत अरु गज तालू सम कोमल शरीर था बालक का ।
इससे रक्खा सबने मिलकर श्री गजसुकुमार नाम उनका ॥
सब आशीर्वाद लगे देने चहुँ दिशि से जय-जयकार हुआ ।
बाजे बाजे-मङ्गल ध्वनि से द्वारिका नगर गुञ्जार हुआ ॥

(५०)

वसुदेव कृष्ण ने मुक्त-हस्त से पुरस्कार बाँटा सबको ।
फिर विदा किया सम्मान सहित पुरजन परिजन आदिक सबको ॥
इस भाँति किये संस्कार सभी विधि से अरु फिर उत्सव भारी ।
पहले उत्सव से दूजे की होती थी छटा और न्यारी ॥

(५१)

हाथों ही हाथ लगा जाने श्री गजसुकुमार का बालकपन ।
देवकी की सारी आशाएँ पूरी होती जातीं हर क्षण ॥
श्री गजसुकुमार हृदय से प्रिय थे समस्त ही यादवकुल को ।
लख सुन उनकी क्रीड़ा भापा थी प्रसन्नता यादवकुल को ॥

(५२)

श्रीकृष्ण आदि सब ही उनको प्राणों से अधिक मानते थे ।
ये यदुकुल कमल सूर्य होंगे ऐसा अनुमान बाँधते थे ॥
यों सबके कृपापात्र बनकर श्री गजसुकुमार लगे बढ़ने ।
प्रतिपद के चन्द्रसमान लगी प्रति दिवस कान्ति उनकी खिलने ॥

(५३)

बालकपन तज विद्या सीखी बन कला बहत्तर के ज्ञाता ।
ढल चली कुमार-अवस्था भी यौवन प्रभाव तन पर आता ॥
अब अभिलाषा यह है सब को देखें विवाह का उत्सव भी ।
श्रीकृष्ण आदि सब के मन मे रह-रह विचार होता यह ही ॥

(५४)

इतने में आये प्रभु नेमी ठहरे द्वारिका नगर बाहर ।
वन्दना लगे प्रभु को करने सब नगर निवासी आ-आकर ॥
प्रभु आना सुना कृष्ण ने भी दी आज्ञा वाहन लाने की ।
प्रभु नेमी चरण-कमल वन्दन को तय्यारी की जाने की ॥

(५५)

जाने को थे इतने में ही श्री गजसुकुमार वहाँ आये ।
पूछा—जाते हैं कहाँ आप भ्राता, क्यों वाहन मँगवाये ?
यों बोले कृष्ण नगर बाहर प्रभु नेमीनाथ पधारे हैं ।
उनको वन्दन करने जाता वे भवनिधि तारन हारे हैं ॥

(५६)

क्या चलूँ वन्दने को मैं भी ? श्री गजसुकुमार ने पूछा यों ।
श्रीकृष्ण उन्हें प्रभु दर्शन में यदि नाहीं भी करते तो क्यों ?
'हाँ चलो' यों स्वीकृति भ्राता की पा गजसुकुमार भी साथ हुए ।
दोनों भाई गज बैठ चले सेवक गण भी कुछ साथ हुए ॥

(५७)

जाते-जाते पड़ गई दृष्टि श्रीकृष्ण की इक कन्या ऊपर ।
कर ले सोने की छड़ी गेंद सखियों सह खेल रही मग पर ॥
थी शरीर से वह सुकुमारी तरुणाई उस पर आती थी ।
सुन्दरता से निज सखियों में जो शशि समान दिखलाती थी ॥

(५८)

जब गेंद मारने को निज कर ऊपर ले जा नीचे लाती ।
तब नभ में ज्यों विद्युत चमकी ऐसी वह बाला दिखलाती ॥
सौन्दर्य-छटा उसकी लखकर श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए मन में ।
है अनुज-विवाह योग्य कन्या यह विचार हो आया मन में ॥

(५९)

बोले सेवक से—देखो तो किसकी यह कन्या सुकुमारी ।
सौन्दर्य छटा की यह प्रतिमा किन मात-पिता की है प्यारी ॥
उनसे कहना तव बाला को याचक बन कृष्ण माँगते हैं ।
यदि हर्ज न हो तो दो वे गजसुकुमार के तईं चाहते हैं ॥

(६०)

कन्या थी सोमल ब्राह्मण की सेवक चल गया पास उसके ।
जो कुछ भी कृष्ण सँदेशा था वह किया कर्णगोचर उसके ॥
वर ऐसा कौन मिलेगा फिर ? यह सोच प्रसन्न हुए दम्पति ।
अब हम सबही के भाग्य खुले जो कन्या याचत हैं यदुपति ॥

(६१)

आ कहा कृष्ण से सोमल ने-आज्ञा स्वीकार आपकी है ।
कीजिये जो इच्छा हो इसको यह कन्या भेंट आपकी है ॥
ले सोमल से उसकी कन्या महलों में शिक्षा पाने को ।
भिजवा आज्ञा दी कला और सभ्यता उसे सिखलाने को ॥

(६२)

ऐसा कर फिर श्रीकृष्ण चले श्री गजसुकुमार सहित आगे ।
पहुँचे नेमीश्वर के चरणों दर्शन अभिलाषा से पागे ॥
वन्दना-नमन कर उभय बन्धु, उपदेश लगे प्रभु का सुनने ।
उस अभयदायिनी वाणी से, श्रोता के पाप लगे टरने ।

(६३)

जैसा होता है पात्र, वस्तु उसमें वैसी बन जाती है ।
हो हृदय कपट तो सत्य बात भी झूठी ही दिखलाती है ।
उर्वरा भूमि में जल-कण भी पड़कर अनाज उपजाता है ।
अपनी भी शक्ति गमाता है जब ऊसर में गिर जाता है ।

(६४)

वसुदेव के लघु सुत के उर में प्रभु का उपदेश पड़ा ऐसा ।
पड़ता है सीप मध्य जाकर स्वाती का जल-बिन्दू जैसा ।
भावना हृदय में यह जागी, जग मिथ्या सुख न तनिक इसमें ।
यह भूलभलैया घना हुआ, आना जाना ही है इसमें ।

(६५)

है इससे कठिन निकलना पर, पुरुषार्थ से नहीं असम्भव है ।
प्रभु जो उपाय बतलाते हैं, वह करने पर सब सम्भव है ।
इससे छुटकारा पाने को, वह ही उपाय अपनाऊँगा ।
उपदेश दिया प्रभु ने जिसका, उस संयम में मन लाऊँगा ।

(६६)

प्रभु-वाणी सुन वन्दन करके श्रीकृष्ण लगे घर को जाने ।
पर गजसुकुमार रहे बैठे, निज उर में एक ध्यान ठाने ।
यह नीति है कि धर्मस्थल में प्रेरणा सहित ले तो जाओ ।
लेकिन उसकी इच्छा विरुद्ध, लौटाकर उसको मत लाओ ।

(६७)

बस इसी नीति से कहा नहीं, श्रीकृष्ण ने उनसे चलने को ।
श्री गजसुकुमारजी वहीं रहे, श्रीकृष्ण आगये महलों को ।
उनके जाने पर कृष्ण-अनुज प्रभु नेमी के सन्मुख आये ।
कर जोड़ सामने खड़े हुए, नम्रता सहित सिर को नाये ।

(६८)

बोले-हे प्रभु, मैं इस जग से सब भाँति बहुत घबराया हूँ ।
ले जन्म अनन्त—बार इसमें, फिर मरने का दुःख पाया हूँ ।
इच्छा है छूटूँ अब इससे, प्रभु समीप से दीक्षा लेकर ।
संयम मारग को अपनाऊँ, जननी पितु से आज्ञा लेकर ।

(६९)

बोले प्रभु—सुख होवे जैसे, अविलम्ब करो तुम वैसे हो ।
जिसके करने में हित देखो, बिन देर करो तुम तैसे ही ।
प्रभु उत्तर से प्रमुदित होकर, वे निज जननी के ढिग आये ।
बोले प्रणाम कर—हे माता, मैंने प्रभु के दर्शन पाये ।

(७०)

दे आशीर्वाद देवकी यों, बोली—बेटा सद्भागी हो ।
माता-पद मेरा सफल हुआ, जो तुम प्रभु के अनुरागी हो ।
देवकी-सुवन बोले माता, इच्छा है छूटूँ इस जग से ।
अपना यह जन्म सफल करलूँ लेकर दीक्षा प्रभु के कर से ।

(७१)

मूर्छित हो उठी देवकी यह, सुनते ही कि मैं दीक्षा लूँ ।
फिर धीरज धर बोली--बेटा, मैं तुमको कैसे आज्ञा दूँ ?
मेरी अनेक अभिलाषा के फल-स्वरूप जन्मे तुम बेटा ।
किस तरह रहेंगे हम जीवित, जब दीक्षा लोगे तुम बेटा !!

(७२)

देवकी ने कृष्ण और पति को बुलवा भेजा निज महलों में ।
हो दुखित सुनाई वही बात है गजसुकुमार के जो मन में ।
तीनों ने मिलकर सभी भांति श्री गजसुकुमार को समझाया ।
पर में ऐसे सुख यह कहकर, संयम में अति दुख बतलाया ।

(७३)

सब बातें सुनकर उत्तर में गजकुमारजी बोले इनसे ।
इस जग में जन्म मरण करके दुख पाये हैं मैंने जैसे ।
वैसे दुख संयम पालन में यदि हर्ष सहित मैं सहजाऊँ ।
तो जीवन-मुक्त भी हो जाऊँ फिर दुख भी कभी नहीं पाऊँ ।

(७४)

जो बार अनन्त सहे मैंने दुख जग में बहुत क्षुभित होकर ।
उनको फिर-फिर क्या सहा करूँ संयम से दूर अभी रहकर ।
इसलिए दया कर कष्टों से छुटाकरे में सहाय दीजे ।
हे माता-पिता और भ्राता, आज्ञा दे आप सुयश लीजे ।

(७५)

समझा हारे जब सभी भाँति फल मिला न आशाप्रद उनको ।
सोचा अनुचित है अब रखना, दुख होगा रखने में इनको ।
धीरज धर बोले धन्य-धन्य उत्तम उद्देश्य तुम्हारा है ।
पर राजतिलक तुमको कर दें, बस यह अनुरोध हमारा है ।

(७६)

चुप रहे कुमार सोच यों ये अपनी इच्छी पूरी करलें ।
पर किसी तरह से भी मुझको दीक्षा लेने की स्वीकृति दें ।
चुप देख अनुज को समझ गये श्रीकृष्ण कि है सम्मति इनकी ।
सेवकों को आज्ञा दी उनने राज्याभिषेक तय्यारी की ।

(७७)

गजकुमार का अभिषेक हुआ दूसरे दिवस पूरी विधि से
सज्जित सब तरह वे किये गये सिंहासन-मुकुट आदि निधि से ।
कर राजदण्ड उनके लखकर सब ही को हर्ष अपार हुआ ।
दुंदुभी-दमामे बजन लगे, चहुँ दिशि मे जयजयकार हुआ ।

(७८)

पूछा श्रीकृष्ण ने फिर उनसे, भैया, क्या आज्ञा है बोलो !
जो कुछ भी इच्छा हो मन में संकोच रहित उसको खोलो ।
बोले वैरागी यह इच्छा ओगे मुनि-वासन मँगवाओ ।
मुण्डन करने को सिर मेरा जल्दी नापित को बुलवाओ ।

(७९)

इच्छा सुन चक्री समझ गये, मन नहीं रहा इनका जग में ।
नाहक ही कष्ट इन्हें होगा आग्रह करके अब रखने में ।
इनकी इच्छा यह ही है तो सर्वोत्तम है दीक्षा लेना ।
उत्तम है प्रसन्नतापूर्वक दीक्षा की स्वीकृति दे देना ।

(८०)

श्रीकृष्ण ने दीक्षा उत्सव का अति उत्तम प्रबन्ध करवाया ।
मुण्डन स्नान कराकर श्री गजकुमारजी को सजवाया ।
सुन्दर पालकी मँगा उसमें, माता सह अनुज को बैठाया ।
इस मुक्ति-सुन्दरी के वर का यह मंगल-विवाह रचवाया ।

(८१)

गाजे-बाजे जयकार सहित सब नेमी प्रभु समीप आये ।
वन्दना नमन कर बार-बार अपने मन में अति हर्षाये ।
संयम—अभिलाषी वाहन तज आभूषण भी सारे त्यागे ।
थोड़े-से कपड़े पहिन चले प्रभु पास देवकी के आगे ।

(८२)

देवकी, पुत्र को कर आगे, नेमी प्रभु के समीप आई ।
सुत-वियोग से अकुला जल की, धारा नयनों ने बरसाई ।
फिर बोली धीरज धर स्वामिन्, यह पुत्र नयन का तारा है ।
यह आशाओं का केन्द्र और घर का सर्वस्व हमारा है ।

(८३)

प्यारा सारे ही यदुकुल को है प्रेमपात्र पितुभ्राता का ।
यद्यपि बालक सुकुमार अभी पर बड़ा भक्त जग-त्राता का ।
यह बारबार के जन्ममरण से नाथ, बहुत घबराया है ।
इस कारण जग के भोग त्याग, यह शरण आपकी आया है ।

(८४)

लीजिए प्रभो, मैं स्वेच्छा से चेले की भिक्षा देती हूँ ।
यद्यपि फटता है हृदय किन्तु उसको कठोर कर लेती हूँ ।
हे दयासिंधु, स्वामिन्, इसको दीक्षा दे शिष्य बना लीजे ।
फिर त्रिविध आधि नहिं देख सके ऐसी शिक्षा इसको दीजे ।

(८५)

प्रभु से विनय विनम्र वचन कह फिर निज सुत से यों बोली ।
हे बेटा, जिस कारण नृप-सुख तजकर लेते हो तुम झोली ।
करना वह प्राप्त मुक्ति—लक्ष्मी संयम में मत प्रमाद करना ।
रह जाऊँ अन्तिम माँ मैं ही, मत जन्म वत्स ! दूजा धरना ।

(८६)

दे शिक्षा आशीर्वाद सहित देवकी कृष्ण आये घर को ।
दी दीक्षा प्रभु नेमीश्वर ने श्री गजसुकुमार वीरवर को ।
नवदीक्षित मुनि विनम्र बोले प्रभुनेमी को वन्दन करके ।
हे नाथ ! मरा मैं अमित बार इस जग में अति रोदन करके ।

(८७)

इच्छा है रहूँ न क्षण भर भी इस जग में इसे न अब देखूँ।
इस शरीर रूपी बन्धन में अपने को बँधा न अब देखूँ।
इसलिये कृपा कर छुट्टी का स्वामी उपाय कुछ बतलाओ।
पहुँचूँ मैं मोक्षपुरी जल्दी ऐसा मारग प्रभु दिखलाओ।

(८८)

सर्वज्ञ त्रिलोकीनाथ प्रभो, सब भूत-भविष्य जानते थे।
किस तरह मोक्ष इनको होगा यह भी वे नाथ जानते थे।
बोले हे मुनि ऐसा उपाय सरा नहीं दिखलाता है।
भिक्षुक की बारहवीं प्रतिमा साधे से सिद्ध हो जाता है।

(८९)

पर कठिन साधना है उसको यदि सधे न तो दुर्गति जावे।
यदि सधी तो मुक्ति-सुन्दरी को कुछ ही क्षण के भीतर पावे।
तुम नव-दीक्षित हो उचित नहीं, इससे यह बतलाना तुमको।
लेकिन परिणाम जानता हूँ, इससे बतलाता हूँ तुमको।

(९०)

महाघोर समसान मध्य असहाय अकेला ही जाकर।
अपनी काया उत्सर्ग करे आत्मा को ध्यान बीच लाकर।
उस समय कष्ट हों कैसे भी पर ध्यान अखण्डित बना रहे।
चाहे तन टूक-टूक होवे पर ज्ञान हृदय में बना रहे।

(९१)

मोक्ष प्राप्ति को साध्य मान उन कष्टों को साधन माने।
जो दुख देता हो अपने को उसको निज शुभ-चिन्तक जाने।
किंचित भी रोप न हो उसपर सब तरह हृदय समता आवे।
यों क्षमाशील भय-रहित रहे, तो तन तज मोक्ष पुरी जावे।

(९२)

गुरु वाणी सुन मुनिवर बोले—मुझको स्वीकृति दीजे स्वामी।
भिक्षुक की वारहवीं प्रतिमा, मैं साधूँगा अन्तर्यामी।
बोले प्रभु यदि यह इच्छा है तो स्वीकृति मैं भी देता हूँ।
कल्याण काज बाधा देना मैं अच्छा नहीं समझता हूँ।

(९३)

आज्ञा पा हर्ष सहित मुनि ने विधियुक्त वन्दना की सब को।
चल पड़े अकेले उसी ओर जिस जगह जलाते नर-शव को।
वे महाकाल समशान मध्य आये अरु कायोत्सर्ग किया।
सब ओर से ध्यान हटा अपना आतम-चिन्तन में लगा दिया।

(९४)

ठाढ़े थे निश्चल प्रतिमा ज्यों इतने ही में सोमल आया।
संध्याकोलीन हवन कारण वह लेने पुष्प समिध आया।
समशान मध्य मुनि को देखा, आकृति से उनको पहिचाना।
क्रोधित हो उठा एक दम वह, मुनि को दुर्वाक्य कहे नाना।

(९५)

बोला—हे दुष्ट अधम पापी, तू ठाढ़ा यहाँ साधु बनकर।
निर्लज्ज अभागे दुर्बुद्धे आया वह राज-भोग तजकर।
मेरी वह शशि-सम कन्या तज पापी तूने अपमान किया।
उसको कलंक दे हम सबकी आशाओं का अवसान किया।

(९६)

ले, तुझे चखाता मेरे इस अपमान का इसी समय बदला।
कपटी! तेरे इस शरीर का करता हूँ इसी समय बदला।
मर मौत से असमय को जिसमें सीधा ही नर्क चला जावे।
अपमान का बदला चुक जावे, तू भी करणी का फल पावे।

(९७)

यों कह सर से गीली मिट्टी ले मुनि के सिर बाँधी पाली।
फिर चिता से खप्पर में भरकर उसमें प्रज्वलित अग्नी डाली।
खौलने लगा सिर खिचड़ी-सा होता था प्रसन्न मन सोमल।
लेकिन उन धीर वीर मुनि का मन बना था वैसा ही निर्मल।

(९८)

सिर सीझ रहा है खिचड़ी-सा, तन की नाड़ियें खिंची जातीं।
इन्द्रियें धर्म अपना तज-तज, प्राणों से रहित हुई जातीं।
देखना हो रहो शरीर को, स्वाभाविक जैसा होता है।
लोहू भी सूखा जाता है, मज्जा भी पिघली जाती है।

(९९)

यह सब कुछ है पर धैर्यवान मुनि ध्यान में डटे रहे वैसे।
सोमल के आने से पहले करते थे ध्यान खड़े जैसे।
क्या होता है मेरे तन का कुछ खबर नहीं इसकी उनको।
रम रहे ध्यान में वे ऐसे वेदना नहीं किंचित् उनको।

(१००)

यद्यपि बिन कारण सोमल ने गाली दे मुनि अपमान किया।
दुष्टता के वश होकर उसने उनके तन का अवसान किया।
लेकिन उन क्षमासिन्धु मुनि ने अपना रिपु उसे नहीं जाना।
किंचित् भी क्रोध नहीं लाये, उल्टे निज परम मित्र माना।

(१०१)

सोचते हैं मुनि मुझको तो यह शरीर जल्दी ही तजना था।
इस थल पर आया इसीलिए उद्देश्य भी मोक्ष पहुँचना था।
दि मित्र न यह आया होता होता न सहायक जो ऐसे।
तो ध्येय प्राप्ति में सम्भव था, कुछ विलम्ब ही होता वैसे।

(१०२)

लेकिन इस सज्जन ने आकर चिन्ता सारी मेरी हर ली।
व्यवहार मित्रता का करके मुझको सहायता ऐसी दी।
ज्यों शीघ्र कहीं पर जाने की आवश्यकता कुछ आ जावे।
इतने में कृपा किसी की से वाहन अच्छा-सा पा जावे।

(१०३)

इस तरह सोचकर शक्ति अछत भी क्रोध नहीं मुनिवर लाये ।
धीरता क्षमा की साक्षात प्रतिमा बनकर ही थे आये ।
जो शिक्षा प्रभु से पाई थी, मुनि ने पूरी कर दिखलाई ।
इच्छा थी जिसको वरने की वह मुक्ति सुन्दरी भी पाई ।

(१०४)

थे सभी तरह से मुनि सशक्त तन का बल था मन का बल था ।
थे सुरनायक सेवक उनके उनमें संयम का भी बल था ।
इच्छा करते तो सोमल को सब तरह दण्ड दे सकते थे ।
सोमल तो क्या सारे जग को वे देख भस्म कर सकते थे ।

(१०५)

लेकिन उनने इस ताक़त का उस समय नहीं उपयोग किया ।
वे क्षमाशील ही बने रहे तन ओर न किंचित् ध्यान किया ।
जलते सिर को न दिया झटका ऐसी धीरता मुनीश्वर में ।
कुछ पता नहीं सिर जलने का ऐसी वीरता मुनीश्वर में ।

(१०६)

यद्यपि इच्छा प्रतिहिंसा की है दोष परन्तु सन्ताप नहीं ।
साहस अभाव से जो चुप वह कायर है, क्षमा का भक्त नहीं ।
पर साहस शक्ति युक्त होकर जो कोप न किंचित लाता है ।
भावना न बदला लेने की, वह क्षमावान कहलाता है ।

(१०७)

श्री गजसुकुमार मुनीश्वर ने सर्वोत्तम क्षमा यही धारी ।
सोमल पर भी सम बने रहे तन की सारी ममता मारी ।
इस क्षमा-शक्ति से सफल हुए अपने उद्देश्य में वे मुनिवर ।
वर्षों के तप से जो मिलता कुछ क्षण मे वे पहुँचे उस घर ।

(१०८)

मुनि के सिर अग्नि डाल सोमल पहले तो बहुत प्रसन्न हुआ ।
पर फिर भविष्य की चिन्ता से सारा शरीर अवसन्न हुआ ।
सोचा आजावेगा कोई मेरा यह कृत्य देख लेगा ।
तो कृष्ण से कहकर वह मेरी बोटी-बोटी उड़वा देगा ।

(१०९)

उस थल से भागा हत्यारा चिन्तित हो यों भावी भय से ।
पर गजकुमारजी डटे रहे निज ध्यान में उसी एक लय से ।
जल गया चर्म सारे सिर का लोहू मज्जा भी नष्ट हुई ।
आत्मा चल दिया मोक्षपुर को जब देखा देह विनष्ट हुई ।

(११०)

इस तरह वीरता से क्षण मे भव-भव का सब कारज साधा ।
भयभीत न हुए जरा उससे मारग मे आई जो बाधा ।
पहुँचे शरीर तज मुक्तिपुरी सुरधाम मे जय जयकार हुआ ।
डूबा सूरज भी साथ-साथ ज्यूँ उसको दुःख अपार हुआ ।

(१११)

इन यदुकुल-कमल-दिवाकर ने मुनि-मणि से जिस दिन दीक्षा ली ।
कारज भी उसी रोज साधा जग को भी अनुपम शिक्षा दी ।
आदर्श मान यह क्षमाशक्ति जो भी प्राणी अपनावेगा ।
जग में भी सुयश कमावेगा भव काट मोक्ष भी जावेगा ।

जीतमल लूणिया द्वारा सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर में मुद्रित।

॥ श्री ॥

राग मांड

पुज्य राज [illegible] जी महाराज
श्री २ महाराज पूजजी जवाहिर लालजी नाम
जात कुल हे जनम लियां [illegible]।१।हो
गांव थान्दलो आपको जो शहर मालवे माय
जीवराजजी पिता आपके नाथी बाई माय।२।हो
बत्तीसे में जन्म आपको अड़चाले लियो जोग
खूब दिपायों जैनधर्म को त्याग दियो सब भोग।३।हो
गुरु आपके थे गुणवंता करगये जग में नाम
श्री २ लालजी [illegible] थो उनको जाणे लोक तमाम।४।हो
सोंप दिया सब भार आपने योग्य शिष्य लियाजान
आप आज्ञा सिरपर धरी जी गुरु बचन [illegible] ५ हो
चार खूंट में विचरता जी करते उग्र विहार
संका सब की मेटताजी चर्चा में हुशियार।६।हो
शिष्य गणेशीलालजी ने खूब किया तइयार
दे पदवी युवराज जी की सोंप दिया सब भार ७हो

हम बालक नादान हैं आप बड़े मुनिराज
पूज श्री गुरुराज ने सुना तुम्हें युवराज
आते हैं दूर से दूर गोरमा आंगी ॥ दर्शको ॥
महाराज के दर्श से नयन सफल होजाय
बीकाणे रो शेठियों कुनणमल चरा साय
बोले यूं रागदेव अरज करी री ॥ दर्शको ॥

तर्ज पर उपकारी रसियो

दोरो जैन धर्म को पाल चैसो है खांडे की धार
है खांडे की धार जग में तप संयम में सार ।१। दोरो
दया धर्म दोय बखतर भारी शील वचन तलवार
प्रेम पंथपर द्रढ़ हो रहना दुर्जन जावे हार ।२। दोरो
काम क्रोध को मार हटावो मद को देवो निकार
आशा तृसणा मोह को मार मिटादेवो अहंकार ।३। दोरो
ए पांचू चोर बसे दुनिया में कबहुन छोड़े लार
इण पांचो से बच कर रहना कबहुन खाणा मार ।४। दोरो
नम्र भाव और शील वचन से सबसे राखो प्यार
समदृस्टी और शीतल रेणा खुशी होय करतार ।दोरो।
भव सागर अथाग नीर में नया पड़ी मझधार

तात मात्त अरु सवजन सनधी गावे मगलाचार ।
समत उनीसो साल वासठ में उदयपुर मंजार ॥
संसार सुख को अनित्य जानकर लीनो संयम भार ।
मोतिलालजी सदगुरु भेटया जिनसे हुआ सुधार ॥
विनय भक्ति करके उनकी फिर सीखे ज्ञान अपार ।
समत उनसो साल नुव्वे में जावद शहर मंजार ।
पूज्य श्री ने समज गुणवंता सोंपा गच्छहि भार ॥
विचरतर आप पधारे बीकानेर मंजार ।
अमृत वाणी सुण के आपकी खुशी होवे नर नार ।
वतीस सुत्र के अर्थ बताओ आगम के अनुसार ॥
विद्या में पंडित है पूरे चर्चा में होशियार ॥
पंच महाव्रत शुद्ध आराधे पाले पंचाचार ॥
गुण सत्ताइस करके दीपे टाले दोष अपार ॥
सत्तरह भेदे संयम पाले त्यागया पाप अठार ॥
माहामोहनी कर्म नीवारे ह्रदय दया अपार ॥
राग द्वेस दोय शत्रु जीते क्षमा तणा भंडार ॥
काम क्रोध मद लोभ कपट तजि पाले चरित्रसार
सभत उन्नीसो साल चौराणु में बीकानेर मंजार ॥
भंवर केसरी कहे गुरूओंके चरणमें शीश हमार ॥

॥ समाप्त ॥

शिवबक्सराय-पुस्तकमाला—१

श्राद्ध-विज्ञान

लेखक—

पं० मल्लिनाथजी शर्म्मा

प्रकाशक—

कमला प्रसाद गोयनका

कलकत्ता।

प्रथम [illegible]

प्रकाशक,

कमला प्रसाद गोयनका

२८, ओल्ड चीनाबाजार स्ट्रीट

कलकत्ता।

मुद्रक—

शिवचन्द तिवारी

जगदीस प्रेस

१०८, काटन स्ट्रीट

कलकत्ता।

समर्पण पत्र

जिनकी गोदमें लालित-पालित हुआ, अज्ञानावस्थामें भी जिनकी
छत्रछायामें मेरी रक्षा हुई, जिनकी असीम अनुकम्पा
और वात्सल्य-प्रेमकी स्मृति मात्रसे रोमाञ्च हो
आता है, जिनसे उऋण होना असम्भव ही है,
उन्हीं पितृदेव की पुण्य-स्मृतिमें यह
कुछ प्रेम-पुष्प उनके श्रीचरणों
में भाव-भक्तिपूर्वक
सादर सश्रद्धा
समर्पित।

"कुसुम"

भूमिका

पुण्यभूमि भारतवर्षके निवासी धर्म-प्राण हिन्दुओंके दार्शनिक सार-भाण्डार जिन वेदोंमें भरे हैं, उनमें कर्मकाण्डको भी मुख्य स्थान प्राप्त है। कर्मकाण्डके अन्तर्गत ही वेद-वर्णित यज्ञोंकी अनुष्ठान पद्धति है, जिसमें पितृयज्ञका भी वर्णन है। अपने पूर्वजोंके नामपर श्रद्धापूर्वक पिण्डोदक देकर जो यज्ञ किया जाता है, उसे पितृयज्ञ या श्राद्ध कहते हैं। श्राद्ध पद्धतिकी मूलभित्ति दर्शन और विज्ञान दोनोंपर समान भावसे अवस्थित है। इसी विषयपर इस पुस्तकमें प्रकाश डाला गया है।

गया। इस पुस्तकमें नक्शा देकर स्पष्ट रूपसे यह समझा दिया गया है।

वेदोंमें एवं उपनिषदोंमें देवयाण और पितृयाणका कालसे संबन्ध रखना अविच्छिन्न रूपमें लिखा गया है और वस्तुत. वह अविच्छिन्न रूपसे ही है, क्योंकि काल (समय) से सम्बन्ध रखनेके विना उनकी सृष्टि ही नहीं हो सकती, अर्थात् देवयाण और पितृयाण कालके ही आश्रित है, लेकिन जिन वैदिक मन्त्र एवं श्रुतियोंसे इनकी सिद्धि होती है उन्हींका अर्थ कुछ समयसे यथार्थ न लगाया जानेके कारण देवयाण और पितृयाणका रूपान्तर हो गया है इसलिये जिस रूप में ये थे वह रूप न रह अन्य ही रूपमें समझे जाने लगे हैं। और अन्तमें केवल श्रद्धामात्र पर ही निर्भर होगये हैं। यह बात ब्रह्मसूत्र एवं शांकर भाष्यसे प्रत्यक्ष झलकती है, लेकिन इस पुस्तकमें देव-याण और पितृयाणको नक्शोंके द्वारा दर्पणकी तरह दिखा दिया गया है।

इसी प्रकार अन्य भी श्राद्ध सम्बन्धी सभी बातें वैज्ञानिक रीति सिद्ध कर दिखाई गई हैं, जो पुस्तकके पढ़नेपर मालूम हो सकती । अतः हिन्दी साहित्य-प्रेमियों तथा प्राचीन तत्वोंके अन्वे-षकोंको यह पुस्तक उपयोगी एवं रुचिकर सिद्ध हुई और उन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

निवेदन

पण्डित, मल्लिनाथजी की लिखी इस पुस्तकमें मुझे नवीनता ज्ञात हुई अतएव मैंने इसे अपने श्रीपूज्य पितृदेवकी पुण्य स्मृतिमें उन्हींके नामसे पुस्तकमालामें प्रकाशित किया है, यदि वाचक वृ दने मेरा उत्साह बढ़ाया तो शीघ्र ही पण्डितजी की लिखी "वेदोंकी प्राचीनता" आदि उत्तम पुस्तकें इस मालामें ग्रथित की जा सकेंगी।

प्रकाशक।

श्राद्ध-विज्ञान

जब परमात्माको सृष्टि रचनेकी इच्छा होती है या यों कहिये कि जब सृष्टि सर्जनोन्मुख होती है तब परमात्मा जीव (पुरुष) को प्रकृतिके साथ संयुक्त कर देता है। उसी कारणसे प्रकृतिमें क्रिया होने लगती है। उदाहरणके लिए यहां प्रकृतिको मशीन समझ लेना चाहिए, पुरुष (जीव) को स्टीम, और परमात्माको इंजनियर।

जब इंजनियर रूपी परमात्मा स्टीम रूपी पुरुषको मशीन रूपी प्रकृतिके साथ संयुक्त कर देता है तब उस प्रकृतिके परमाणुओंमें क्रिया होने लगती है और उस क्रियाके फलरूप बुद्धितत्वकी उत्पत्ति होती है। इसीको दर्शनान्तरोंमें विराट् भी कहते हैं। इससे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। अहंकारको शास्त्रान्तरमें ब्रह्मा भी कहते हैं। सत्व, रज, और तमोगुणके भेदसे अहंकार तीन प्रकार का होता है। सत्व-गुण-प्रधान अहंकारको वैकारिक कहते हैं, रजोगुण-प्रधान अहंकारको तैजस कहते हैं, और तमोगुण-प्रधान अहंकारको भूतादि कहते हैं।

"वैकारिक स्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महत्तत्वादजायत"

(विष्णुपुराण)।

इनमेंसे तामस अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये तन्मात्रा तथा इन्हींके स्थूल रूप आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी आदि महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। ये तत्व केवल निरिन्द्रिय सृष्टिको ही उत्पन्न कर सकते हैं, अतः तैजस अहंकारसे इन्द्रियोंके स्थान निर्मित होते हैं और सात्विक अहंकारसे पांच

इसी विषयको वेद, उपनिषद्, और पुराण प्रायः पिण्ड ब्रह्माण्ड की रीतिसे वर्णन करते हैं। वस्तुत बात एक ही है, केवल नाम मात्रका भेद है। इनके कथनानुसार सृष्टिके आदिमे पर ब्रह्माख्य वासुदेव एक ही है, इसीका अंश रूप संकर्षण (आकर्षण शक्ति रूप) भगवान् प्रकृतिसे भी पर अलिप्त, अकर्त्ता है। इसीको सांख्य मतमे पुरुष कहा है, इसीको जीव कहते हैं। यही प्राकृतिक अपां (सूक्ष्मातिसूक्ष्म वाष्पों) को रच कर उनमे अपने वीर्य (आकर्षण) को छोड़ता है। इससे कुछ सुवर्णके समान चमकता हुआ अंडेके आकारका पिण्ड (गोला) उत्पन्न होता है यही क्रमश असंख्य सूर्योके समान तेजोवान जलते हुये वाष्प-पुञ्जके सदृश होता है। इसीको वेदोंमे हिरण्यगर्भ कहते हैं और इसीको सांख्य में महत्तत्व अथवा बुद्धितत्व कहते है। इसी हिरण्यगर्भात्मक पिण्डसे ब्रह्मा नामक पिण्डकी उत्पत्ति होती है, यही सांख्यका अहंकार तत्व है। इसीसे आकाशके नक्षत्र पिण्ड और सूर्य चन्द्रमा तथा पृथ्वी आदि पिण्ड उत्पन्न होते हैं। सेन्द्रिय सृष्टिके उत्पादक अन्य भी २१ तत्व इसीसे उत्पन्न होते है। इस प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमे दर्शनोंका मतभेद होने पर भी तात्विक दृष्टिसे अभेद ही है। यही परमात्मासे लेकर मनुष्य प्राणी तक की उत्पत्तिका क्रम और विकाश है तथा उपरोक्त तत्वोंके द्वारा ही सृष्टिकी उत्पत्ति होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।

धर्म नहीं हो सकते। अतः मनुष्यकी मृत्युके बाद भी उसके आत्माका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार प्रकृतिसे अवश्य ही रहना चाहिये।

मृत्युके बाद पंचभौतिक स्थूल देहका नाश तो प्रत्यक्षमें देखा जाता है, अतः यह तो प्रकट ही है कि उस समय स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति से तो आत्माका किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं, रहता परन्तु इससे यह भी नहीं कह सकते कि प्रकृति केवल स्थूल महाभूतात्मक ही है। प्रकृतिसे महत्तत्वादि २३ तत्व उत्पन्न होते हैं उनमेंसे स्थूल महा भूत तो अन्तके पांच तत्व हैं। मनुष्यके मरनेके बाद उन २३ तत्वों मेंसे यदि इन स्थूल महाभूतात्मक पांच तत्वोंको निकाल भी दिया जाय तो भी शेष १८ तत्व तो रही जाते हैं अतः। यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके बिना ज्ञान प्राप्त किये मरनेके बाद यद्यपि अन्तके स्थूल महाभूतात्मक शरीरसे तो इसका सम्बन्ध छूट जाता है लेकिन इस प्रकारकी मृत्युसे, प्राकृतिक अन्य १८ तत्वोंके साथ तो इसका सम्बन्ध ज्यों का त्यों बना रहता है, इसी १८ तत्वों के शरीरको शास्त्रोंमें लिंग शरीर, सूक्ष्म शरीर, मानसिक शरीर, आदि नाम से लिखा है।

"पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्म पर्यन्तम्।
[illegible]ति निरुप भोगम् भावैरधिमुसितवा लिगम् (सां० का० ४०)

[illegible]र्थ—महत्तत्वसे लेकर पंचतन्मात्रा पर्यन्त, १८ तत्वोंका शरीर, भावोंसे युक्त हुआ हुआ "सन्सरति स्थूल शरीरसे [illegible] है और पुनः स्थूल शरीरको प्राप्त कर लेना है। गीतामें भी [illegible]खा है कि—

धर्म नही हो सकते। अतः मनुष्यकी मृत्युके वाद भी उसके आत्माका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार प्रकृतिसे अवश्य ही रहना चाहिये।

मृत्युके वाद पंचभौतिक स्थूल देहका नाश तो प्रत्यक्षमें देखा जाता है, अतः यह तो प्रकट ही है कि उस समय स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति से तो आत्माका किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं, रहता परन्तु इससे यह भी नहीं कह सकते कि प्रकृति केवल स्थूल महाभूतात्मक ही है। प्रकृतिसे महत्तत्वादि २३ तत्व उत्पन्न होते हैं उनमेंसे स्थूल महा भूत तो अन्तके पांच तत्व हैं। मनुष्यके मरनेके वाद उन २३ तत्वों मेंसे यदि इन स्थूल महाभूतात्मक पांच तत्वोंको निकाल भी दिया जाय तो भी शेष १८ तत्व तो रही जाते हैं अत.। यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके विना ज्ञान प्राप्त किये मरनेके वाद यद्यपि अन्तके स्थूल महाभूतात्मक शरीरसे तो इसका सम्बन्ध छूट जाता है लेकिन इस प्रकारकी मृत्युसे, प्राकृतिक अन्य १८ तत्वोंके साथ तो इसका सम्बन्व ज्यों का त्यों वना रहता है, इसी १८ तत्वों के शरीरको शास्त्रोंमें लिग शरीर, सूक्ष्म शरीर, मानसिक शरीर, आदि नाम से लिखा है।

"पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्म पर्यन्तम्।
सन्सरति निरुप भोगम् भावैरधिम्सितवा लिंगम् (सां० का० ४०)

अर्थात्—महत्तत्वसे लेकर पंचतन्मात्रा पर्यन्त, १८ तत्वोंका सूक्ष्म शरीर, भावोंसे युक्त हुआ हुआ "सन्सरति स्थूल शरीरसे जाता है और पुनः स्थूल शरीरको प्राप्त कर लेता है। गीतामें भी लिखा है कि—

"ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः।
मनःषष्ठानिन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(गी०-१५-७)

अर्थात् भगवान् कहते हैं इस जीवलोकमें मेरा ही सनातन अंश जीव होकर प्रकृतिमें रहनेवाली मन सहित छः इन्द्रियोंको अपनी ओर खींच लेता है इसीको लिंग शरीर कहते हैं। आगे लिखा है कि

शरीरं यद् वाप्नोति यच्चा प्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानि वाशयात।
(गीता १५-८)

ईश्वर (जीव) जिस शरीरको प्राप्त होता है अथवा जिस स्थूल शरीरसे निकलता है तब लिङ्ग शरीरको साथमे लेकर ही स्थूल शरीरमे प्रवेश करता है और उसको साथमें लेकर ही स्थूल शरीर से निकलता है जैसे पुष्प आदि सुगन्ध वस्तुओंसे वायु गन्धको ले जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी लिङ्ग शरीरको साथमें ही रखता है। आगे और भी लिखा है—

"श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते"॥
(गीता १५-९)

कान, चक्षु, त्वचा, जिह्वा, नाक और मन सहित छः इन्द्रियोंके आश्रित होकर यह (जीव) आत्मा विषयोंका उपभोग करता है अर्थात् सूक्ष्म शरीर (कर्म शरीर) से तो दिव्य विषयोंका स्वर्गादिकमें भोग करता है और स्थूल शरीरमें भूमि पर स्थूल

विषयोंका उपभोग करता है। इस प्रकार सर्व उपनिषत् और दर्शनोंके सारभूत गीताशास्त्रके हिसाबसे स्थूल शरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी अवश्य होता है। तथा वृहदारण्यको पनिषद्के (४ ४-५)में लिखा है कि मनुष्यके मरते समय आत्माके साथ २ पाच सूक्ष्मभूत, मन, इन्द्रिया, प्राण और धर्माधर्म भी स्थूल शरीरसे बाहर हो जाते हैं और आत्माको अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न २ लोक प्राप्त होते हैं तथा वहा पर कुछ काल पर्यन्त रहकर उसको अपने किये हुये अच्छे अथवा बुरे फलोंका भोग करना पड़ता है। यही बात वृहदारण्यकोपनिषत् (६-२-१४ १५)में तथा ,'छा० उ० ५-३-३,,में भी लिखी है। इसी प्रकार "छा० ५-१-९, म लिखे अनुसार "वे०सू० ३-१-१ से ७ पर्यन्त जो वर्णन किया गया है उससे जान पडता है कि लिङ्गशरीरमें पानी, तेज और अन्नका भी समावेश रहता है। अत यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि मरनेके बाद स्थूल शरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर भी अवश्य होता है और वह सूक्ष्म विषयों का स्वर्गादिकमें अवश्य ही उपभोग करता है। इतना ही नहीं, क्या हिन्दू क्या मुसलमान और क्या ईसाई, जिनके धर्मग्रन्थोंमें मरनेके बाद स्वर्गादिककी प्राप्ति और वहा पर स्वर्गीय भोगोंको भोगना आदि लिखा है उनको तो अवश्य ही स्थूलशरीरके अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानना पडेगा।

—भाव—

लिंगशरीरमें जिन १८ तत्वोंका समावेश है। उनमें बुद्धि तत्व सबमें प्रधान है, क्योंकि बुद्धि तत्वसे ही आगेके १७ तत्व उत्पन्न होते हैं। जिसको वेदान्तमें कर्म कहते हैं उसीको सांख्यमें सत्व, रज तम गुणोंके न्यूनाधिक परिणामसे उत्पन्न होनेवाला बुद्धिका व्यापार, धर्म, या विकार कहते हैं। बुद्धिके इस धर्मका नाम "भाव" है। सत्व, रज, तम गुणोंके तारतम्यसे ये भाव कई प्रकारके हो जाते हैं, जैसे फूलोंमें सुगन्ध तथा कपड़ोंमें रङ्ग लिपटा रहता है इसी प्रकार सूक्ष्म वाष्प रूप लिङ्गशरीरमें भी ये भाव लिपटे रहते हैं (सां० का० ४०)

इन भावोंके अनुसार ही लिंगशरीर नये २ जन्म धारण किया करता है।

पुण्यकर्मोंसे स्वर्गीय भावोंकी वृद्धि होती है और पापकर्मोंसे बुरे तथा नारकीय भावोंकी वृद्धि होती है। इन्हींके अनुसार आत्मा को देवयोनि, मनुष्य योनी, पशुयोनि, पक्षीयोनि और वृक्षयोनि आदि प्राप्त होती हैं। ये भेद इन भावोंकी समुच्चयताके ही परिणाम हैं, इसी लिए सांख्यने लिखा है—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः"।

(सां० का० ४४)

अर्थात् धर्मसे स्वर्गलोक प्राप्त होता है और अधर्मसे नरकमें जाता है, ज्ञानसे मुक्ति होती है और तत्वज्ञान न होनेसे सदा बन्धनमें है"

रहता है अर्थात् विना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। अतः भाव ही प्रधान हैं।

—सजातीयता—

सृष्टिके नियमोंमे "जाति" पदार्थ भी वड़ा भारी व्यापक होता है। यह नियम ईश्वरसे आरम्भ होता है और तिर्यक योनियोंसे भी नीचे तक चला जाता है। इसीकी जब सूक्ष्मता कर ली जाती है, तब इसीके अर्थमें "सम्बन्ध' और "भाव" शब्दों को भी काममें लाया जाता है। जैसे अमुक मनुष्य ब्राह्मण है अत. हमारा भाई है। यहां ब्राह्मणमें ब्राह्मणत्व जाति है। और कहनेवालेमे भी ब्राह्मणत्व जाति है। अत. उनके जातोय भाव एक ही हैं इसलिये ब्राह्मणका ब्राह्मणके साथ भ्रातृत्व सम्बन्ध रहना युक्तियुक्त ही है। इसी प्रकार मनुष्य मनुष्यमें, देव देवमे, पशु पशुमे सजातीय सम्बन्ध रहता है।

और भी चुम्वक चुम्वकोंमे सजातीय सम्बन्ध रहता है जैसे वे तारके तार आदिमें यही खूबी रहती है कि जहा किसी एक स्थानकी मशीनमे खटका किया कि दूसरे स्थानकी मशीनमे खटका सुनाई दिया, क्योंकि आकर्षणशील विद्युतके सजातीय सम्वन्ध एक ही होनेके कारण एक स्थानपर किया हुआ शब्द दूसरे स्थान पर तुरन्त चला जाता है। यहा पर चुम्वकोंका आकर्षण ही प्रधान है जिससे एक स्थान पर उत्पन्न किये हुए शब्दतरंगोंको स्थानान्तर पर रखा हुआ चुम्वक तुरन्त आकर्षित कर लेता है और स्थानान्तरमे समाचार भेजे जाते हैं। इसी प्रकार पिता पुत्रका भी सजातीय सम्बन्ध होता है। वेदोंमे लिखा है कि "आत्माऽवै पुत्रो जायेत"

पिताका आत्मा ही पुत्र रूपमे परिणत होता है अर्थात् पिताका आत्माका "पुत्र" घटाकाशवत् हिस्सा, टुकडा या अंश होता है इसी लिये शास्त्रोंमे पुत्रको अंश भी कहते हैं।

अब यदि पुत्र पिताके आत्माका ही अंश होता है तब तो उन की सजातीयता भी एक ही है। इसी आधारको लेकर राजनीति भी बनी है कि पिताका ऋण पुत्रको चुकाना पड़ता है और पुत्रका ऋण पिताको चुकाना पडता है। इसी प्रकार जैसे बेतारके तारको किसी मशीनके कल पुर्जोंको यथास्थानपर लगा कर उसमें क्रिया (कर्म) की जाती है और उस कर्मके द्वारा खबर को स्थानान्तरकी मशीनमे पहुंचाया जाता है इसी प्रकार इस लोक मे स्थित पुत्र रूपी मशीनके भी भावोंको, श्राद्धमें यथा स्थान पर स्थापित किये हुये मोदक, आसन आदिकी क्रियाके द्वारा शुद्ध और अनन्य बनाकर उनके द्वारा श्राद्धमें दिये हुए अन्नादिकके सूक्ष्म परिणामको स्थानान्तर (पितृलोक) मे स्थित पिता रूपी मशीनमे भेजा जाता है। या यों कहिये कि पुत्रकी अनन्य श्रद्धा रूपी विद्युतसे आकर्पित होकर पितर लोग स्वयं आ कर उपस्थित हो जाते हैं। अत यदि बेतारके तारकी आकर्पणशील विद्युतके द्वारा स्थानान्तरमें खबर भेजी जा सकती है, तो पुत्रके अनन्य भावयुक्त श्रद्धा (विद्युत्) के द्वारा श्राद्धमें दिये हुये अन्नादिका सूक्ष्म परिणाम भी पितृलोकमें भेजा जा सकता है।

यहां पर यदि कोई यह शंका करे कि किसी एक स्थान पर बैठा हुआ मनुष्य, किसी स्थानान्तरमें बैठे हुये मनुष्यको अन्नादि

ते तृप्त क्यों नहीं हो जाता ? तो हम कहते हैं कि हो सकता है जैसे भगवान कृष्णने दुर्वासा आदिको इसी नियमके द्वारा तृप्त किया था। इसलिये श्राद्धमें दिये हुये द्रव्यका सूक्ष्म परिणाम पितृ लोकमें जाकर अथवा यहां पर ही पितरोंको मिलकर उनकी तृप्ति अवश्य करता है। इसी बातको आगे भी अकाट्य प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया जायगा।

—गमनागमन—

पहिले यह निर्णय कर दिया गया है कि किन किन तत्वोंका आश्रय लेकर प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अब थोड़ा सा यह भी निर्णय कर देना आवश्यक है कि प्राणियोंकी उत्पत्तिके बाद जब वे मरते हैं तब किस किस प्रकारसे कहां कहां जाते हैं और वहांसे लौट कर किस प्रकारसे पृथ्वी लोकमें आते हैं।

इसका उत्तर छान्दोग्योपनिषत्के पञ्चमाध्यायके चतुर्थ खण्ड मे लिखा है कि.—

"अग्निहोत्रा हुत्यन्ना पूर्व परिणामो जगदिष्यते"

अर्थात् अग्निहोत्रकी आहुतिमें दिये हुये अन्नादिकका अपूर्व परिणाम ही जगत् (गमनागमन) है। क्योंकि परलोकमें जाना और वहांसे लौट कर पृथ्वी लोकमें आना इसीका नाम जगत् (चलनशील) है। तथा अग्निहोत्रादिक शुभ कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिये ही प्राणी परलोकमें जाते हैं और उनकी समाप्तिके साथ ही पुनः इस लोकमें आते हैं। भगवानने भी यही कहा है कि "क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति" अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर

प्राणियोंको मृत्यु लोकमे आना पड़ता है। यहा आकर अग्निहोत्रादि कर्म करते है। और उनके फलको भोगनके लिये पुन स्वर्ग लोक मे चले जाते है इस प्रकार उनका वारम्वार आवागमन होता रहता है इमी लिये इस आवागमनको जगत् (गमनशील) कहते है।

अग्निहोत्रके द्वारा आहुति किस प्रकार परलोकमे जाती है और उनके फलको मनुष्य किस प्रकार भोगते है इसके लिये लिखा है कि —

"तत्राग्नि होत्रे सायं प्रातश्चाहुतयो राहुत्यो
रस्माल्लोकादुत्क्रान्ति उत्क्रान्तयो' परलोकं
प्रति गतिः, गतयो स्तत्र प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठितयो.
स्वाश्रये संपद्यमाना तृप्तिः, तृप्ति मापाद्या
वस्थितयो:पुनरिमं लोकं प्रत्यावृत्ति.

आवृतयो राश्रय पुमान् असुं लोकं प्रत्युत्थान शीलो भवति"

अर्थात् सायंकाल और प्रात कालमे दी हुई आहुतियो इस लोकसे उठ कर परलोक (चन्द्रलोक) मे चली जाती है और वे वहा एक-त्रित होकर रहती है। चन्द्रलोकमे एकत्रित हुई आहुतियां अपने आश्रयभूत यजमानको तृप्ति करती है और वहां हुई आहुति वर्षादि क्रमसे फिर इस लोकमे चली आती है तथा उनके फलके भोगने के लिये तदाश्रय भूत यजमानका भी पुन इस परलोकसे उत्थान (जन्म) होता है।

[illegible] यह है कि उपनिषदोंमें [illegible] [illegible] [illegible] है। अर्थात् पूर्ण [illegible]

पृथ्वी आदि लोक, तथा उनके प्राणी, सबके सब सूक्ष्म वाष्प रूप में ही थे क्योंकि कार्यका नाश होने पर कारण रूप ही रहता है तथा सूक्ष्म वाष्प (प्राकृतिक प्रमाण) ही सृष्टिके कारण हैं, अतः सृष्टिका नाश होने पर वह वाष्प रूपमे ही परिणत हो जाती है यह बात अत्यन्त ही युक्तिसंगत है। सारांश यह है कि आहुतियोंका सूक्ष्म परिणाम वाष्प रूप है और मनुष्य भी मरनेके बाद सूक्ष्म वाष्पावस्था (लिंग शरीर) रूपमें परिणत होकर ही प्राणी रूपमे परिणत होता है इस प्रकार कभी वाष्प रूप और कभी प्राणी रूप मे परिणत होनेके कारण उसका संसार चक्र बन जाता है क्योंकि इस चक्रमे कभी इस लोकमे और कभी परलोकमें प्राणीको चक्रकी तरह घूमना पडता है इसी लिये यह जगत संसार-चक्र कहलाता है। इसका हेतु अग्निहोत्रादि कर्मों की आहुति आदिका सूक्ष्म परिणाम ही है वह जब तक बना है तब तक संसारचक्रमे घूमना ही पडता है। इससे सिद्ध होता है कि वाष्प रूप आहुति, वाष्प रूप यजमानके सूक्ष्म (लिंग) शरीरकी सजातीय होती है इसी कारणसे उसको आकर्षणके द्वारा आवेष्टित करके अपने सजातीय चंद्र लोक में ले जाती है और वहां उसको किये हुये कर्मों का भोग कराती है, बादमे पुनः इसी लोकमे ले आती है।

भोग दो प्रकारके होते है। स्थूल और सूक्ष्म! स्थूल भोग पार्थिव होते हैं और सूक्ष्म भोग स्वर्गीय होते हैं। पार्थिव भोगोंको पृथ्वी लोकमें भोगना पडता है और स्वर्गीय भोगोंको स्वर्गमे भोगना पडता

अब पार्थिव भोगोंके बाद जिस प्रकार प्राणी चन्द्रलोकमें जाता

है और स्वर्गीय भोगोंके बाद जिस प्रकार पृथ्वी लोकमें आता है इसको उपनिषत् क्या ही उत्तम रीतिसे वर्णन करते हैं।

"असौ वाव लोको गौतमाग्नि स्तस्या दित्यएव समिद्र
श्मयो धूमो,ऽहरर्चि, श्चन्द्रमा अंगारा, नक्षत्राणिविस्फुलिंगाः
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा. श्रद्धां जुह्वति,
तस्या आहुतः सोमोराजा सम्भवति ॥" (छा० उ० ५-४)

यहां अग्निहोत्र रूपसे वर्णन करनेके लिये श्रुति कहती है कि अग्निहोत्रमें निम्नलिखित वस्तुयें आवश्यक होती हैं। अग्नि, समिधा, धुवां, शिखा, अंगार और विस्फुलिङ्ग। अग्निमें समिधा डालते हैं तो प्रथम धुवां उत्पन्न होता है बादमें उससे अग्नि-शिखा निकलती है और शिखाके शान्त होने पर उससे अंगार दिखाई देते हैं तथा बादमें मामूली विस्फुलिंग (चिनगारी) मात्र रह जाती है। इसी परिणाम या रूप पर श्रुति कहती है कि यह लोक 'द्युलोक' ही एक प्रकारका अग्नि है और सूर्य ही एक प्रकारकी समिधा (ईंधन) है, क्योंकि सूर्यसे ही द्युलोकादि समिद्धमान होते (धधकते) हैं। सूर्यकी रश्मि ही यहां धुवां है दिन ही मानो शिखा निकलती है, शिखा मिटने के बाद चन्द्रमा ही अंगारोंके तुल्य दिखाई देता है, इसके अनन्तर तारे ही टिमटिमाते हुए विस्फुलिंगों (चिनगारियों) के सदृश दिखाई देते हैं। इस प्रकारके द्युलोक रूपी अग्निमें देवता (यजमानके प्राण) श्रद्धाका होम करते हैं, उस श्रद्धा रूप आहुतियोंका परिणाम सोम राजा होता है। इसका [illegible] इस प्रकार है—

'तस्मिन्नेतस्मिन् [illegible] देव

यजमानस्यप्राणा अग्न्यादि रूपाः सूक्ष्मा आपः
(सूक्ष्मवाष्प रूप लिंग शरीर) श्रद्धा भाविताः श्रद्धा
उच्यन्ते, "पंचम्यामाहुतौ आपः पुरुष वचसो भवन्त्य, पां होम्यतया प्रश्ने उक्तत्वात्। श्रद्धाया आपः श्रद्धामे वाग्भ्य प्रचरभ्य प्रणीय प्रचरन्ति, इतिच विज्ञायते। ता श्रद्धामप् रूपा जुहति' तस्या आहुते' सोमोराजा सं भवति। अपा श्रद्धा शब्द वाच्या ता द्युलोकाग्नौ हुतानां परिणामः सोमो राजा सं भवति। यथर्ग्वेदादि पुष्पस्था ऋगादि मधुकरो पनीतास्त आदित्ये यश आदि कार्यं रोहितादि रूप लक्षण मारभन्ते, फलरूपाग्नि होत्राहुत्यो। यजमानश्च तत्कर्त्तार आहुतिमया आहुति भावना भाविता आहुति रूपेण कर्मणाऽऽकृष्टा श्रद्धाप्समवायिनो द्युलोक मनु प्रविश्य सोम भूता भवन्ति। तदर्थ हिरग्नि होत्रं हुतम्"।

इस शाकर भाष्यका सारांश यह है कि इस यथोक्त लक्षण अग्निमे देवता रूप जो मनुष्यके प्राण हैं वे श्रद्धा (सूक्ष्म वाष्प)का होम करते हैं वे वाष्प भी यजमान (प्राणी) की श्रद्धासे भावित होनेके कारण श्रद्धा कहलाते हैं और वे द्युलोकमे जाकर चन्द्रमा सम्बन्धी (चन्द्रजातीय) कार्यको आरम्भ करते हैं तथा चन्द्र रूप होकर वहां ही सचित हो जाते है। इसी प्रकार मरनेके बाद यजमान भी आहुति रूप होया हुआ आहुतियोंकी भावनासे भावित होकर तथा उसी आहुति कर्मसे आकर्षित होकर द्युलोकमे प्रवेश करता है और सोम रूप हो जाता है। क्योंकि इसी (स्वर्ग प्राप्तिके) लिए ही तो उसने अग्निहोत्रादि कर्म किये थे। यहां श्रुतिका सारांश यह है कि होम

करने वालेके भाव आहुतियोंमे भरे रहते हैं और आहुतियां उसके भावोंमें भरी रहती हैं। इस परस्परके भावोंसे भावित आहुतियोंके सूक्ष्म परिणामका नाम ही तो श्रद्धा है। तात्पर्य यह है कि यजमान के भावोंसे भरी हुई आहुतियोंकी सूक्ष्म वाष्प श्रद्धा कहलाती है और आहुतियोंके भावसे युक्त यजमानके प्राण (लिंग शरीर) भी श्रद्धा कहलाते हैं। इसलिए ये आपसमें सजातीय होते हैं। अर्थात् अग्निमें आहुति डालनेसे उसकी वाष्प होकर आकाशमे उड़ जाती है इसी प्रकार यजमानके प्राण भी अग्नि रूप होनेके कारण सूक्ष्म वाष्प रूप ही है अतः वे भी मनुष्यके मरनेके बाद आकाशमें उड़ जाते हैं और ये दोनोंके दोनों क्रमश चन्द्रमा सम्बन्धी (शीतल) कार्यको आरम्भ करते हैं तथा चन्द्रमाके समान गुण वाले होकर उस चन्द्रमा पर ही स्थित रहते हैं। यही चन्द्र सम्बन्धी कार्यारम्भ करने वाली (सोमो राजा भवति) इस श्रुतिका तात्पर्य है। अब चन्द्रमा इनका सजातीय क्यों है ? तथा श्रद्धा नामक वाष्प चन्द्रमा सम्बन्धी कार्यको ही आरम्भ क्यों करती है ? इस विषयका आगे विचार किया जायगा। यहां तो प्रकृत विचार यही है कि आकाशमे गये हुए श्रद्धा नामक वाष्प सोम रूपमें परिणत होकर कुछ काल तक चन्द्रलोकमे जमा रहते हैं और वादमे इनमें क्या क्या परिवर्त्तन होता है इसी वातका विचार करना है। श्रुति कहती है कि—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि स्तस्य वायुरेव समिद भ्रं धूमो विद्य-दर्चि रशनि रंगारा ह्रादनयो विस्फुलिंगा। तस्मिन्ने तस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजाना जुह्वति। तस्या आहुतेर्वर्ष सम्भवति।

(छांदोग्योपनिषद ५।५)

अर्थात् आहुतियोंका पहिला परिणाम तो सोमराजा होता है और दूसरे परिणामके लिये आकाशमें पर्जन्य ही अग्नि है, पर्जन्यका अर्थ है वृष्टिको उत्पन्न करने वाला अथवा वृष्टिकारक वाष्पोंकी सूक्ष्मावस्था। शाङ्कर भाष्यमे लिखा है कि "पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवता विशेष" अत यही एक प्रकारका अग्नि है, वायु ही समिधा है, क्योंकि वायु (मानसून) से ही वृष्टि वृद्धिको प्राप्त होती है, और यहा बादल ही धूंआ है, क्योंकि वर्षाके सूक्ष्म वाष्प, जब वायुके द्वारा एकत्रित किये जाते हैं तब बादलके रूपमे प्रथम धुंवासे ही दिखाई देते हैं। यहा बिजलीकी चमक ही अग्निशिखा है और गर्जन ही विस्फुलिंग है तथा वज्र ही अंगार हैं। इस प्रकारके अग्निमें यजमानके प्राण सोमराजाका होम करते है और इस आहुतिका परिणाम वर्षण होता है। अर्थात् दूसरी आहुतिमें वे ही श्रद्धा नामक वाष्प "वृष्टित्वेन परिणाम्स्यते" वृष्टि रूपमें परिणित हो जाते है।

अब तृतीय परिणामके लिये लिखा है कि —

"पृथ्वी वाव गौतमाग्नि'स्तस्या संवत्सर एव
समिदाकाशो धूमो, रात्रि रर्चि, दिशोऽङ्गारा
अवान्तर दिशो विष्फुलिंगा। तस्मिन्नेतस्मिन् नग्नौ देवा वर्ष
जुह्वति। तस्या आहुते रन्न संभवति' (छा० ५-६)

तृतीय परिणामके लिये पृथ्वी ही अग्नि है, संवतसर ही समिधा है, क्योंकि वर्ष भर तक तपी हुई पृथ्वी ही अन्नोंकी निष्पत्तिके लिये उर्वरा होती है। यहां आकाश ही धुंवा है, क्योंकि पृथ्वीसे

उठा हुआ धुएंके से रंगका दिखाई देता है। और रात्रि ही अग्नि शिखा है, क्योकि पृथ्वी स्वयं अन्धकार रूप है। वह सूर्य्यसे ही प्रकाश पाती है तथा पृथ्वीकी छाया ही रात्रि है, और वह शूच्याकार शिखाकी तरह सूर्यकी विपरीत दिशामें खड़ी रहती है इसलिये रात्रिको शिखाकी उपमा दी गई है और पृथ्वी अन्धकार मयी जैसा अग्नि है वैसी ही छाया इसकी शिखा है। दिशा ही अंगार है क्योंकि चारों दिशाओंमें ही पृथ्वी धधकती हुई दिखाई देती है। विदिशा ही विष्फुलिंग है, क्योंकि पृथ्वी विदिशाओंमें ही फैली हुई और जगमगाती हुई दिखाई देती है। इस प्रकारके पृथ्वी रूपी अग्निमें यजमानके प्राण वर्षाका होम करते हैं। इस आहुतिसे चावल, यव, गेहूँ, आदि अन्न उत्पन्न होते हैं। अर्थात् वही श्रद्धा तृतीय परिणामसे अन्न रूपमें परिणित हो जाती है। चतुर्थ परिणामके लिये लिखा है कि—

"पुरुषो वाव गौतमाग्नि स्तस्य वागेव समित्,
प्राणो धूमो जिह्वार्चि, श्चक्षु रंगारा: श्रोत्रं विष्फुलिंगा.
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति।
तस्या आहुते रेत: संभवति"

(छां० ५-७)

यहां पुरुष ही अग्नि है, वाणी ही समिधा है, क्योंकि वाणीसे ही मनुष्य उन्नत होता है, प्राण ही धूम है, क्योंकि प्राण वायु ही मुखसे धुएँकी तरह निकला करता है, जिह्वा ही अग्निशिखा क्योंकि रक्त वर्ण और शूच्याकार है। चक्षु ही अंगार है क्योंकि

वे ही अंगारोंकी तरह चमकते है। कान ही विष्फुलिंग है। इस प्रकारके पुरुष रूपी अग्निमें यजमानके प्राण अन्नका होम करते हैं। इस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुष अन्न खाता है और उसका परिणाम वीर्य है। अत वही श्रद्धा चतुर्थ परिणाम में वीर्य रूपमें परिणित हो जाती है। आगे पञ्चम परिणामके लिये लिखा है। कि—

"यो षावाव गौतमाग्नि, स्तस्या उपस्थ एव समिन्, यदुपमन्त्रयते स धूमो, योनि रर्चि, र्यदन्त, करोति ते अँगारः, अत्रिनन्दा विष्फु-लिङ्गाः तस्मिन्नेतस्मिनग्नौ देवा रेतो जुह्वति।

तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति।

(छां० ५-८)

यहां स्त्री ही अग्नि है, इसमें यजमानके प्राण रूपी देवता वीर्यका होम करते हैं। उससे गर्भोत्पत्ति होती है। अर्थात् वे हो श्रद्धा रूपी सूक्ष्म वाष्प, पहिले सोम रूपमे, फिर वर्षा रूपमे, फिर अन्न रूपमें, फिर वीर्य रूपमें परिणत होकर आखिरमे गर्भ रूपमे परिणत होता है। इसीलिये लिखा है कि

इति तु पञ्चम्या माहुतावाप पुरुष वचसो भवन्ति

(छां० ५-९)।

अर्थात् इस प्रकार पांचवी आहुतिमें "आपः" श्रद्धा नामक सूक्ष्म वाष्प ही पुरुष नामसे विख्यात होती है। आगे लिखा है कि—

" स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः

शयित्वा यावद् बाथ जायते" (छां० ५-९)।

वह उल्व (जेरसे) आवृत गर्भ नव मास, वा दश माम, तक माताके पेटमें सोकर बादमें उत्पन्न होता है। आगे लिखा है कि—

"स जातो यावदायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽ
ग्नय एव हरन्ति। यत एवेतो यतः सभवति"
(छां० ५-९)

अर्थात् इस क्रमसे जन्म लेकर, यावदायु पर्यन्त जीकर, स्वर्गादिक प्राप्तिके लिये अग्नि होत्रादि कर्म करके, आयु समाप्त होने पर फिर मरता है और उसको पुत्रादिक फिर भी अग्निको ही अर्पण कर देते हैं क्योंकि वह श्रद्धादि क्रमसे अग्निमे ही आता है। वात भी ठीक है। क्योंकि कार्य्यका कारणमे ही लय हुआ करता है। वस्तुत· "यथापञ्चम्या माहुता वाप पुरुष वचसो भवंति (छां० ३-३) का सारांश यही है कि मनुष्यके मरनेके वाद उसको पुन· पुरुप रूपमें परिणत होनेके लिये किन २ साधनोंकी आवश्यकता पडती है, किन २ साधनोंके होनेसे मनुष्य का लिंग शरीर, पुरुप (प्राणी) रूपमे परिणत होता है इसो वातको श्रुति वतलाती है कि लिंग शरीर को प्राणि रूपमें परिणत होनेके लिये निम्नलिखित परिस्थिति की आवश्यकता होती है।

जव लिंग शरीर किसी पञ्च भौतिक शरीरमेसे निकल कर जाता है तव उसमे कुछ अशुद्धि भी रहती है क्योंकि अशुद्धि या रोग आदिकी गन्दगीके कारण ही तो उसको स्थूल शरीर छोड़ना पडता

है। इन अशुद्धियोंको शुद्ध करनेके लिये [illegible] की भी आव-
श्यकता होती है और उससे परिवर्तनकी भी आवश्यकता होती है। इसी
बातको श्रुति बतलाती है कि द्युलोकको समझनेका [illegible]
सूर्य ही सब दोषोंको शुद्ध करता है। अर्थात् प्राणी वहीं रह
सकता है जहां स्थान अच्छा हो, सूर्यका प्रकाश भी अच्छा हो, तथा
दिन रात भी होते हों और चन्द्रमाकी किरणें भी पड़ती हों एवं
तारे भी जगमगाते दिखाई देते हों। कारण यह है कि मानव
प्राणीके रहनेके योग्य परिस्थितिको सूर्य, चन्द्रमा और तारे ही शुद्ध
बनाते रहते हैं। यह अपनी अपनी किरणोंसे परिस्थितिकी गन्दगी
को नष्ट करके प्राणियोंको उत्पन्न होनेके लिये उपयोगी बनाते
रहते हैं यही "असौवाव गौतमाग्नि" आदि श्रुतिका अभिप्राय है।
यदि स्थूल शरीरमें रोगादि दोषोंके कारण लिंग शरीरको असुविधा
नहीं होती, तो वह उसको कभी नहीं छोड़ता लेकिन यह एक प्राकृत
नियम है कि स्थूल शरीरमें कुछ न कुछ असुविधा हो ही जाती है।
अन्य कुछ भी नहीं हो तो वृद्धत्व तो आ ही जाता है। यह भी
तो एक प्रकारका रोग ही है कि जिसके कारण लिंग शरीरको स्थूल
शरीर छोड़ना ही पड़ता है। जब लिंग शरीर रूपी सूक्ष्म वाष्प
द्युलोकमें प्रवेश करके सूर्यके प्रकाश और किरणोंका लक्ष्य बन कर
आकाशमें घूमता है तब उसकी स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखने वाली
गन्दगी सब नष्ट हो जाती है और वह शुद्ध होता हुआ शीतलता
तथा गुरुताका कार्य आरम्भ करता है यही चन्द्र सम्बन्धी कार्या-
रंभ करनेका तत्व है। इसी क्रमसे जब वह चन्द्रमाकी परिस्थिति

के अनुकूल, या सदृश हो जाता है, तब चन्द्रमाके आकर्षणसे आकर्षित होकर चन्द्रलोकमे कुछ काल तक ठहरता हैं और अपने किये हुये कर्मोंका भोग करता है। जब चन्द्रमाकी परिस्थिति (वहां के वाष्प) से भी उनमे गुरुता आ जाती है तब चन्द्रलोकको भी छोड़ कर पर्जन्य नामक सूक्ष्म मेघोंके रूपमे परिणत होकर क्रमश बद्दल, वर्षा अन्न, वीर्य और गर्भ आदिमे परिणत होता हुआ फिर भी प्राणी रूपमें परिणत होकर प्रकट होता है। यही उपरोक्त श्रुतियोंके कथनका अभिप्राय है।

अब श्रद्धा नामक सूक्ष्म वाष्प चन्द्रमा तक ही जाती है अन्य बुध, शुक्र, भौम, गुरु, शनि आदि तक नहीं जाती। इसमें क्या कारण है इसी बातका आगे निर्णय किया जायगा।

-द्युलोक-

द्युलोकका वर्णन पूर्वमे कई एक स्थानों पर आया है परन्तु यह नहीं बतलाया गया कि आकाशीय कितने भागका नाम द्युलोक है। यहापर इसीका जरा विचार करना आवश्यक है।

द्युलोक दो प्रकारके हैं, एक ज्ञान मार्गियोका और दूसरा कर्म मार्गियोका। ज्ञान मार्गियोके द्युलोककी अवधि ब्रह्मलोक (ब्रह्मतारे) तक है और कर्ममार्गियोके द्युलोककी अवधि चन्द्रमा तक है। क्योंकि ब्रह्म ज्ञानियोका, या यो कहिये कि साकारोपासकों का परम प्राप्य स्थान, ब्रह्मलोक ही है इसलिए इनके द्युलोकका या ब्रह्मलोकके मार्गका कमसे कम ब्रह्मलोक तक होना आवश्यक और युक्ति युक्त है। तथा इसी प्रकार कर्मोपासकोका परम प्राप्य स्थान

चन्द्रलोक है इसलिए इनके द्यु लोकका या पितृयाणका भी चन्द्रमा तक होना परमावश्यक और युक्ति संगत है। यद्यपि द्यु लोक (आकाश लोक) कोई भिन्न २ नहीं होते लेकिन उपासना भेदसे ये दो प्रकारके हो जाते हैं। ब्रह्मज्ञानियोंका द्यु लोक प्रकाश मय और शुक्ल है, तथा कर्मियोका द्यु लोक अन्धकारमय और कृष्ण है। ज्ञानियोंका द्यु लोक, पहिले सूर्यके द्वारा, आगे चन्द्रमा नामक तारेके द्वारा, आगे विद्युत नामक नक्षत्रके द्वारा और फिर स्वयं ब्रह्मलोकके द्वारा प्रकाशित हैं। इसमें कहीं अन्धकारका लेशमात्र भी नही है। यह पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तक एकदम प्रकाशमय और शुक्ल हैं। परन्तु कर्मियोंका द्यु लोक इससे भिन्न है वह पृथ्वी की तथा चन्द्रमाकी छाया स्वरूप है इसी लिए अन्धकारात्मक और कृष्ण है यह पृथ्वीसे लेकर चन्द्र लोक तक गया हुआ है। साराश यह है कि पृथ्वी और चन्द्रमा स्वय प्रकाशहीन हैं। ये सूर्यके द्वारा ही प्रकाश पाकर प्रकाशित होते हैं। इनको किसी एक दिशा मे सूर्य रहता है तो उससे विपरीत दिशामें इनकी छाया रहती है। सूर्यमण्डल महान् है। पृथ्वी और चन्द्रमा इससे छोटे हैं इसलिए ज्यामिति (ज्यामेट्री) शास्त्रके हिसाबसे इनकी छाया सूच्याकार होती है और पृथ्वीकी छाया चन्द्रमण्डल तक जाकर या उससे कुछ आगे तक जाकर खतम होजाती है। इसी प्रकार चन्द्रमाकी छाया भी पृथ्वी तक आकर खतम हो जाती है। ये दोनों ही छाया परस्पर पृथ्वी और चन्द्रमाको छोडकर अन्य किसी भी ग्रहके मण्डल तक नही जाती। यदि जाती होती तो सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहण

के अनुसार अन्य भी भौमादिक ग्रहोंका ग्रहण देखनेमें आता, लेकिन आजतक सूर्य और चंद्रमाको छोडकर अन्य किसी भी ग्रहका ग्रहण न तो देखा गया और न सुना गया। इसलिए यह सिद्धान्त निकलता है कि पृथ्वीकी छाया चन्द्रलोकको छोडकर अन्य किसी भी ग्रह लोक तक नहीं जाती और चन्द्रमाकी छाया पृथ्वी लोकको छोडकर अन्य किसी भी लोक तक नहीं जाती। ये दोनों छाया मिलकर ही चन्द्रलोकमें जानेके लिए पितृयाण मार्ग बनाती हैं। इन छायाओंमें होकर ही कर्मोपासक चन्द्रलोकमें जाते हैं इसीलिए कर्मियोंका प्राप्य स्थान चंद्र लोक ही माना गया। यदि ये छाया अन्य भी ग्रहलोक तक जाती होती तो चन्द्रमाको छोडकर अन्य भी पितृ लोक माना जा सकता था लेकिन छायाके अन्य ग्रह तक न जानेके कारण अन्य ग्रहोंको छोड़कर चन्द्रमा ही प्रधान पितृलोक माना गया। इस विवरणसे यह भली प्रकारसे व्यक्त हो गया है कि पृथ्वी और चन्द्रमाकी छायामें जितना आकाश आ जाता है उसीका नाम कर्मियोंका द्युलोकात्मक मार्ग है और इसके आक्रमणके अन्तर्गत आनेवाला चन्द्रमा ही कर्मियोंका पितृलोक है। इसीपर कर्मियोंकी दी हुई आहुति सूक्ष्मरूपसे जमा होती है और इसीपर मरनेके बाद कर्मियोंके लिंग शरीरकी भी स्थिति होती है। इसलिए भू छायासे तथा चन्द्र छायासे आक्रान्त आकाश ही कर्मियोंका द्युलोक (पितृयाण) है और इसके साथ संलग्न चन्द्रमा ही पितृलोक है।
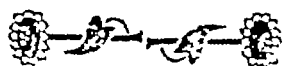
—ब्रह्मलोक—

पहिले लिख चुके हैं कि एक द्युलोक ऐसा है जो ब्रह्मलोक तक गया हुआ है। इसलिये यहां यही निर्णय करना है कि जिसको वेदोंने और वेदान्तोंने ब्रह्मलोकके नामसे लिखा है, जिसको प्राप्ति अनावृत्तिकारक मानी जाती है वह ब्रह्मलोक क्या है और कहां है।

ब्रह्मलोकके निर्णयके लिये हम अन्य शास्त्रोंको साथमें लेते हुये वेदोक्त पुरुष सूक्तके आधारपर लिखी हुई सूर्य सिद्धान्तकी ब्रह्माण्डोत्पत्तिके अनुकूल ही यहां लिखते हैं। सूर्य सिद्धान्तके गोलाध्यायमें चलते ही लिखा है कि—

"वासुदेवः परंब्रह्म तन्मूर्तिः पुरुषः परः।
अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पञ्चविंशात्परोऽव्ययः।
प्रकृत्यन्तर्गतोदेवो वहिरन्तश्च सर्वगः।
सङ्कर्षणोऽपः सृष्ट्वादौ तासु वीर्यमवासृजत्।"

(सू० सि० गो० १२-१३)

अर्थात् सम्पूर्ण जगत्में वास करनेवाले परब्रह्मकी मूर्त्यन्तर रूप पुरुषोत्तम भगवान्, अतीन्द्रिय, सत्व रज तम इन तीनों गुणोंसे रहित और मद मात्सर्यादिसे भी रहित, पचीसों तत्वोंसे भिन्न, क्षय रहित और सत्व रज तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था रूप प्रकृतिसे सम्वलित, बाहर भीतर और सब जगह व्याप्त, वासुदेवके अंश रूप संकर्षण (आकर्षण शक्ति रूप) भगवान्ने, सृष्टिके आदि मे सबसे प्रथम अपों (सूक्ष्म वाष्पों) को रच कर उनमें अपने वीर्य (आकर्षण) को छोड़ा।

यहां वासुदेव शब्दका अर्थ यह है कि –

"सर्वत्रासौ समस्ता च वसत्यत्रेति वैयतः ।
अतोऽसौ वासुदेवाख्यो विद्वद्भि. परिगीयते ।'

अर्थात् जो सब प्राणियोंमें वास करे अथवा सब प्राणी जिसमें वास करें उसको वासुदेव कहते हैं। अतः वासुदेव शब्दसे उस एक ही परब्रह्म परमात्माका ग्रहण होता है।

तथा "संकर्षण" शब्दकी व्युत्पत्ति व्याकरणकी रीतिसे 'कर्षतीति कर्षणा' 'सम्यक् प्रकारेण कर्षतीति संकर्षण, अर्थात् किसीको भी खींचे उसको कर्षण कहते हैं और जो सब प्रकारसे खींचे उसको संकर्षण कहते हैं। इसी प्रकार आकर्षण शब्दकी भी व्युत्पत्ति हो सकती है जैसे "आ" "समंतातकर्षतीत्याकर्षणः" अर्थात् जो चारों ओरसे खैंचे उसको आकर्षण कहते हैं। इन व्युत्पत्तियोंके हिसाबसे "संकर्षण" और "आकर्षण' शब्दोंके अर्थमे कोई भी भेद नहीं प्रतीत होता। इसलिए परमात्माकी संकर्षण शक्तिका नाम ही आकर्षण शक्ति है। अब ऊपरके श्लोकके "अप.सृष्टवादौ" मे जो "अप शब्दका प्रयोग किया है, यहा "अप" शब्दका अर्थ 'जल नहीं लिया गया है क्योंकि जलकी उत्पत्ति तो पञ्चभूतोंकी उत्पत्तिके साथ आगे लिखी जायेगी। अत "अप" शब्दका अर्थ यहा जल न लेकर सूक्ष्म जल वा सूक्ष्म वाष्प लेना चाहिये। वैदिक कालमे सूक्ष्म वाष्प शब्दकी जगह "आप' शब्द ही लिया जाता था। छान्दोग्योपनिषदमे "आप" शब्दका अर्थ सूक्ष्म वाष्प ही लिया है जैसे लिखा है कि "पञ्चम्यानाहुतौ

आपः पुरुष वचसो भवन्ति' (छा०-५-४) अर्थात् पाचवीं आहुतिमे "आप" (सूक्ष्मवाष्प) पुरुप नामसे प्रसिद्ध होती है। तात्पर्य यह हैं कि प्रलयके बाद सृष्टि सूक्ष्मवाष्प रूपमे हो जाती है, या यों कहिये कि मरनेके बाद सभी प्राणी सूक्ष्मवाष्प रूपमे परिणत होते हैं। और क्रमशः पाचवें परिणाममे प्राणी रूपमे प्रगट हो जाते हैं। अतः यहां "आप" शब्दका अर्थ सूक्ष्मवाष्प ही लेना चाहिये। आप शब्दकी द्वितीया विभक्तिके बहु वचनका 'अप' बनता है इसलिए "अपः" सृष्टवादौ" का अर्थ होता है कि वह वासुदेवाख्य परमब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदिमे इधर उधर बिखरे हुए सृष्टिके सूक्ष्मवाष्पीय मूल परिमाणुओंको अपनी संकर्षण (आकर्षण) शक्ति से एकत्रित करता है, यही भगवानके द्वारा सूक्ष्म अपोका सर्जन है। जब परमात्माकी यह इच्छा होती है कि मैं सृष्टिकी रचना करूं, तब अपनी आकर्पण शक्तिको छोड़ देते हैं। उस शक्तिसे वे बिखरे हुए सृष्टिके वाष्प रूप परिमाणु, एकत्रित होने लग जाते हैं।

साराश यह है कि किसी भी वस्तुकी सूक्ष्मावस्था वाष्प रूप होती है इसलिए प्रलय कालमे सबको सब सृष्टि सूक्ष्मवाष्प कणोंमे परिणत हो जाती है। जब सृष्टिका सर्जनकाल आता है तब वे ही बिखरे हुए वाष्पमय मूल परमाणु आकर्पण शक्तिके द्वारा आकर्षण शील होकर एकत्रित होने लगते है और प्रलय कालमे वे ही विक्षेपण शक्तिके द्वारा इधर उधर बिखर जाते हैं और अव्यक्तमे लीन हो जाते है। (गी०-८-१८-१९)

इस क्रियाको प्राकृतिक कहे या भगवानकी इच्छा कहे जो चाहें

सो कह सकते हैं लेकिन निरीश्वरवादियोंकी इस प्राकृतिक क्रिया की अपेक्षा इन क्रियाओंके प्रेरक ईश्वरको मानना अच्छा है। क्योंकि संकर्षण शक्ति एक होनेपर भी भगवानकी इच्छासे वही विक्षेपण शक्ति हो जाती है। इस प्रकार संकर्षण शक्तिके आकर्षण, विक्षेपण, उत्क्षेपण, मध्याकर्षण आदि अनेक भेद हो जाते हैं। ये सब ईश्वरकी इच्छा पर ही निर्भर हैं। यही शक्ति ईश्वरकी इच्छासे संकर्षण रूपा होकर बिखरे हुए परमाणुओंको एकत्रित करके सृष्टिकी रचना करती है और यही विक्षेपण या उत्क्षेपणका रूप धारण करके सृष्टिका लय कर देती है। इसलिए यहांपर यदि कोई यह तर्क करे कि ऐसा क्यों होता है, तो यहांपर प्राकृतिक नियम ही ऐसा है, इस उत्तरकी अपेक्षा, ईश्वरकी इच्छा ही ऐसी है यह उत्तर उत्तम है क्योंकि "ईश्वरेच्छा बलीयसी" कहलाती है इसलिए सूर्य सिद्धान्त कारकका कहना है कि प्रलयके बादमें जब ईश्वरको सृष्टि रचनेकी इच्छा हुई थी तब उन बिखरे हुए सृष्टिके सूक्ष्म वाष्पमय परमाणुओं को रचकर (सृष्टि रचनोन्मुख करकर) उनमें अपने वीर्य (आकर्षण) को छोड़ दिया।

इस आकर्षणके द्वारा वे परमाणु पुञ्ज एकत्रित होकर जिस परिणामको पहुचते हैं यही आगेके श्लोकमें लिखते हैं।

"तदण्ड मभवद्धैमं सर्वत्र तमसावृतम्।

तत्रानिरुद्ध· प्रथमं व्यक्तिभूतः सनातन"

(सू० सि० गो० १८)

जब उस वाष्पके अन्दर स्थित होया हुआ आकर्षण अपना

कार्य करने लगा तब वे वाष्प एकत्रित होकर तथा क्रमशः घनी भाव को प्राप्त होकर आपसमें रगड खाते हुए अन्तमे उनके एक सुवर्ण के से रंगका अंडाकार गोला उत्पन्न हो गया। अर्थात् वे ही वाष्प एकत्रित होकर एक सुवर्णमय अंडेके से आकारमें परिणत हो गये।

वहा इस वाष्प-पुञ्जका सुवर्ण का सा रंग लिखना अत्यन्त ही आश्चर्यजनक और युक्तियुक्त है क्योंकि कोई भी वस्तु जब घनी भावको प्राप्त होने लगती है तब उससे परमाणु आपसमे रगड खा खाकर अग्निको उत्पन्न करते हैं और वह अग्निका प्राथमिक स्वरूप होता है। अग्निका प्रथम स्वरूप सुवर्णकेसे रंगका संसारमें प्रत्यक्ष देखा जाता है। अतः ब्रह्माण्डके इस प्रथम गोलेका रंग सुवर्णके समान लिखना कितना आश्चर्यकारक और युक्तिसगत है, इसका वैज्ञानिक संसार ही अनुमान कर सकता है। जिस समय ये परमाणु सुवर्णमय अंडेके आकारमे हुये थे उस समय सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार छाया हुआ था तथा इसी अंडेके अन्तर्गत अनिरुद्ध नामा भगवान व्यक्त हुये थे। अर्थात् वही सुवर्ण रंग वाला अंडा और भी घने भावको प्राप्त होकर अनिरुद्ध स्वरूपमे परिणत हो गया। अनिरुद्ध किसको कहते हैं यह आगेके श्लोकोंमे लिखते हैं—

"हिरण्य गर्भो भगवान एप छन्दसि पठ्यते।
आदित्यो ह्यादि भूतत्वात्प्रसूत्या सूर्य उच्यते॥
परं ज्योति स्तम पारे सूर्योऽयं सवितेति च।
पर्येति भुवनान्येप भगवान् भूत भावनः॥

प्रकाशात्मा तमो हन्ता महा नित्येष विश्रुतः।
ऋचोस्य मण्डल सामान्युस्रा मूर्तिर्यजूंषिच ॥
त्रयीमयोऽयं भगवान् कालात्मा काल कृद् विभुः।
सर्वात्मा सर्वगः सूक्ष्मः सर्वमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥
त्रिपाद ममृतं गुह्यं पादोऽस्य प्रकटोऽभवत्।
सोऽहंकारं जगत् सृष्ट्यै ब्रह्माणमसृजत्प्रभुः ॥"
(सू० सि० गो० १५-१६-१७-१८-२०)

जिसका तेज किसीसे रुक नहीं सके, अथवा जिसका तेज अप्रतिहत उसको अनिरुद्ध कहते हैं।

सुवर्ण वर्णात्मक अंडेके अन्तर्गत होनेके कारण वेदोंमे इसको हिरण्य गर्भ कहते हैं लिखा है—

"हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः
पतिरेक आसीत् "इति श्रुति"

"सबसे प्रथम होनेके कारण इसे आदित्य कहते हैं और समस्त ब्रह्माण्डका प्रसवस्थान होनेके कारण इसे सूर्य कहते हैं १५ और इस अनिरुद्ध नामक तेजपुञ्जको सबसे अधिक तेज रूप होनेसे भी सूर्य कहते हैं तथा अन्धकारके विरामसे होनेके कारण इसको सविता कहते हैं, "आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुति अर्थात् अन्धकारके पारङ्गत होनेके कारण इसको आदित्य वर्ण कहते हैं १६ यह प्रकाशात्मा है, तमो हन्ता है, और वेदोंमे तथा सांख्य शास्त्रमे इसे महतत्व भी कहते हैं। ऋग्वेद इसका मण्डल है साम-वेद इसकी किरणें हैं और यजुर्वेद इसकी मूर्ति है १७ अत. इसको

वेद त्रयात्मक कहते हैं, यह सर्वात्मा सर्वगत और सूक्ष्म हैं इसीमें सर्व जगत प्रतिष्ठित है १८। इस प्रकार तेजो रूप इस अनिरुद्धात्मक महान् सूर्यके तीन चरण तो अमृत रूप होकर अलक्षित है और इस चतुर्थ चरणने प्रकट होकर जगतकी रचनाके लिये अहंकार मूर्ति धारी ब्रह्माको उत्पन्न किया २० ।

तात्पर्य यह है कि पहिले वासुदेवाख्य परब्रह्म परमात्माकी संकर्षण नामक आकर्षण शक्तिसे सृष्टिके बिखरे हुये वाष्प कण, एकत्रित हुये, और उनमें मध्याकर्षणके द्वारा घनी भाव उत्पन्न हुआ। यह घनी भाव (ठोसता) वढ़ते वढ़ते उस वाष्पका एक प्रकारका सुवर्णके रंगका सा गोला वन गया। इसीको महतत्व या अनिरुद्ध कहते हैं। जब इसका तेज वढ़ते वढ़ते सूर्यका सा हो गया और जब इसमें अग्नि की सी ज्वाला भी निकलने लग गयी, तब इसको अहंकार तत्व या ब्रह्मा कहने लग गये। अग्निकी ज्वाला का रङ्ग लाल होता है इसी लिये ब्रह्माका वर्ण लाल माना गया है जैसे "रक्त वर्ण ब्रह्माणां ध्यायेत्" इति। तथा सूर्यका भी रक्त वर्ण होता है इसलिये इस महान् (ब्रह्मा नामक) सूर्यका तो कोई महान् ही रक्त वर्ण हो सकता है और भी लिखा है—

"तस्मै वेदान् वरान् दत्वा सर्वलोक पितामहम्।
प्रतिष्ठाप्याण्ड मध्येऽथ स्वयं पर्येति भावयन् ॥

(सू० सि० गो० २१)

इस प्रकार ब्रह्मा नामक पिण्डको रचकर उसको वेद देकर उस अंडेके मध्यमें स्थापित करके स्वयं अपनी ही धुरीके चारों ओर घूमने लगा २१ ।

तात्पर्य यह है कि वही अनिरुद्ध नामक पिण्ड और भी घनी भावको प्राप्त होकर या सङ्कुचित होकर ब्रह्मा नामक पिण्डके रूपमे परिणत हो गया। क्योंकि किसी भी वस्तुका संकोचन स्थान, उसके केन्द्रमे ही हुआ करता है इसलिये वही संकुचित होकर ब्रह्मा के रूपमे हुआ। और भी लिखा है—

"पुनर्द्वादशधात्मानं व्यभजद्राशिसंज्ञकम्।
नक्षत्ररूपिणं भूय सप्तविंशात्मकं वशी"।
(सू० सि० गो० २५)

जब वह ब्रह्माके रूपमे परिणत हो गया, अर्थात् ब्रह्मा नामक पिण्ड वन कर तैयार हो गया और जब वह अपने ही अक्ष (धुरी) के चारों ओर घूमने लगा तब अपनी ही आत्माके १२ विभाग करके बारह राशियोंकी रचना की, और २७ विभाग करके सताईस नक्षत्रोंकी रचना की। साराश यह है कि इसी (ब्रह्मा नामक) महान् पिण्डमेसे टूट २ कर समस्त राशि और नक्षत्रोंके पिण्ड उत्पन्न हुये क्योंकि "व्यभजत्" का यही अर्थ है। आगे लिखा है, कि—

"अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माहंकार मूर्तिभृत्।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णो स्तेजसा निधिः"।
मनस. खं ततो वायु रग्नि रापो धरा क्रमात्।
गुणैक वृद्धया पञ्चैव महा भूतानि जज्ञिरे।
(सू० सि० गो २२-२३)

अथ अहंकार मूर्त्तिधारी ब्रह्मा नामक पिण्डने सृष्टि रचनेकी

इच्छा करके मनसे चन्द्रमा और नेत्रोंसे सूर्यको रचा। इसी प्रकार मनसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीको गुणोंके वृद्धिके साथ साथ इन पञ्च महाभूतोंकी रचना की। पूर्वके "अप सृष्टवादौ" मे जो "अप:" शब्दका वाष्प अर्थ लिखा था। उसमे कारण यही था कि ऊपरके इसी श्लोकके "आपोधश क्रमात्" मे जलकी उत्पत्ति तो यहां लिखी है इसलिये यदि दोनों जगहके "अप" शब्दोंका भिन्न २ अर्थ नहीं करते तो इनका कोई स्पष्ट अथ हो ही नहीं सकता था और दो जगह पर जलकी उत्पत्ति लिखना ग्रन्थकारकी अदूरदर्शिता सी मालूम होती थी इसलिये सू० सि०गो० १३ के "अप:" का वाष्प अर्थ करना चाहिये और श्लोक २३ के "आप:" का अर्थ जल तत्व लगाना चाहिये।

अब देखिये इस पिण्ड ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति सूर्य्य सिद्धातमें कितनी आश्चर्य जनक लिखी है। जिसमें कि पहिले केवल परमात्मा वासुदेवाख्य एक ही था, उसीके मूर्त्यान्तर रूप संकर्षण शक्त्यात्मक (आकर्षण) भगवान्ने सृष्टिके सूक्ष्म परिमाणुओंको एकत्रित करके उनमे अपना आकर्षण छोडा, उससे सुवर्ण वर्णात्मक एक गोला तैयार हुआ जिसका परिणाम ब्रह्मा नामक पिण्ड हुआ और उसीमे से टूट २ कर बारह राशि और २७ नक्षत्रोंके पिण्ड हुये तथा इसीसे सूर्य्य चन्द्र और पञ्चभूत भी हुए।

इस प्रकार जब ब्रह्मा नामक पिण्डसे आकाशके समस्त नक्षत्र पिंड और हमारा सूर्य भी उत्पन्न होचुका तो इसके बादमे हमारा सूर्य भी अपने अक्ष पर घूमने लगा और इससे भी

तेजपुञ्ज टूट २ कर बुध, शुक्र, पृथ्वी,मङ्गल, गुरु, और शनि आदि ग्रह पिण्ड तथा धूमकेतु और उल्का पिण्डोंकी भी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार एक सौर चक्र उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अनेक सौर चक्रोंकी उत्पत्ति होती है। आकाशमे रात्रिके समय जो टिम टिमाती हुई नक्षत्रोंकी तारा दिखाई देती है वे भी प्रत्येक सूर्यात्मक हैं। जिस प्रकार हमारे सूर्यका यह सौर चक्र है इसी प्रकार आकाशमे इस ब्रह्मा नामक पिण्डके साम्राज्य में न मालूम कितने सौर चक्र हैं। प्रत्येक नक्षत्र एक सौर चक्र का शासक हैं। प्रत्येक सौर चक्रके शासक नक्षत्रोंका भी शासन कर्त्ता यह ब्रह्मानामक पिण्ड है। इसने ब्रह्माण्डके समस्त सौर पिण्डोंको अपनी संकर्षण शक्तिके द्वारा ऐसा जकड़ रखा है कि वे अपने स्थानसे टससे मस भी नहीं हो सकते। अब विचार कीजिये कि जब आकाशके समस्त नक्षत्रात्मक सूर्योंको उत्पन्न करने वाला तथा उनको जीवन देने वाला और अपनी शक्तिसे यथा स्थान पर जकड़े रखने वाला कोई ब्रह्मा नामक पिण्ड हैं तो उसके आकार और परिमाणकी कौन कल्पना कर सकता है। हमारी बुद्धि तो एक छोटी सी पृथ्वीके यथार्थ निर्णयमे ही घबरा जाती है, तो ब्रह्मा नामक नक्षत्रका यथार्थ निर्णय करना तो अवश्यमेव अतीन्द्रिय विषय है। लेकिन यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि ब्रह्माण्ड के समस्त तारोंका उत्पादक ब्रह्मा नामक तारा अवश्य है और वह सबके मध्यमे स्थापित होकर अपनी धारणात्मिका (आकर्षण) शक्तिसे समस्त तारोंको अपनी ओर खींचे हुये हैं क्योंकि "दिव्राण परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिका" का यही तात्पर्य

है अर्थात् नक्षत्र और उनके ग्रह तथा उपग्रहोंपर ब्रह्माकी आकर्षण शक्ति बराबर जारी रहती है और वे स्वयं भी आकर्षण शील होते हैं।

अत उपग्रहोंको ग्रह और ग्रहोंको सूर्य, तथा सूर्यों को यह ब्रह्मा (महासूर्य) अपने अधीन रखता है।

जब प्रलय होता है तब यह समस्त नक्षत्र इसी ब्रह्मा नामक पिण्डमें जा मिलते हैं। अर्थात् उपग्रह ग्रहोंमें, ग्रह सूर्योंमें और सूर्य ब्रह्मामे लीन हो जाते हैं, ये ब्रह्माके दिनान्तमें होता है। ज्ञान शक्तिसे ब्रह्माके तुल्य तेजस्वी होने पर मनुष्य भी ब्रह्मलोकमें जाकर प्राप्त होते हैं। यही उनकी ब्रह्मलोककी प्राप्ति कहलाती है तथा यह ब्रह्मा ही उनको क्रम मुक्तिका लोक कहलाता है।

उपरोक्त इस वर्णनसे यह बात एकदम सिद्ध होगई है कि ब्रह्मा भी एक तारात्मक महान् पिंड है और उसीने समस्त ग्रह नक्षत्रोंको अपनी ओर खींच रखा है और वही इनका सम्राट है लेकिन यह नहीं बतलाया गया कि आकाशमे इसकी तारा कहां है। इसके लिये लिखा है—

"पूर्वस्यां ब्रह्म हृदया दंशकै पञ्चभिः स्थितः।
प्रजापति र्वृपान्तेऽसौ सौम्येऽष्टा त्रिंश दंशकै.,,।

(सू० सि० न० २०)

अर्थात् ब्रह्म हृदयसे पांच अंश पूर्वकी ओर वृष राशिके अन्तमें तथा क्रांतिवृत्तसे ३८ अंश उत्तरकी तरफ प्रजापति (ब्रह्मा) नामक तारा स्थित है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्माकी स्थिति पृथ्वीके

उत्तरमें है और वृष राशिके अन्तमें है ब्रह्माका अग्निमय होना तथा करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश वाला होना भविष्य पुराणमें लिखा है

"तत्र लोके गुरुर्ब्रह्मा विश्वात्मा विश्व भावन. ।
तत्र गत्वा न शोचन्ति सविष्णुः सच शङ्करः।
सूर्य कोटि प्रतीकाशं पुरन्तस्य दुरासदम्।
न मे वर्णयितु शक्यं ज्वालामाल समाकुलम्,, ।

[भ० पु० अ० २-३]

अर्थात् उस लोकमें गुरु ब्रह्माजी निवास करते हैं जो विश्वात्मा और विश्वको उत्पन्न करनेवाले हैं, वहा जाकर कोई भी चिन्ता नहीं करता है वही बिष्णु है और वही शंकर है करोडो सूर्यों के समान प्रकाश और तेजवाला है तथा वड़ी कठिनाईसे प्राप्त होने लायक है। वेदव्यास जी कहते हैं कि उस ब्रह्माका में वर्णन नहीं कर सकता क्योकि 'ज्वाला माल समाकुलम्' ज्वालाओंकी मालासे व्याप्त है अर्थात् 'ज्वाला व्याप्त दिगन्तरम्' के सदृश महान् अग्निमय है।

इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मा नामक नक्षत्र पिण्ड एक प्रकारका अग्निमय लोक है और ब्रह्माजी उसके अधिष्ठाता हैं या वह स्वयं ही ब्रह्मा है क्योंकि "सब्रह्मा सच शंकर" से तो यही मालूम होता है कि वह लोक ही ब्रह्मा है।

साराश यह है कि ब्रह्मा एक प्रकारका अग्निमय महान् पिण्ड है और आकाशके समस्त नक्षत्र तथा ग्रह इसीसे बने हैं और इसीकी शक्तिसे आकर्षित होकर क्रमश. इसीकी ओर आ रहे हैं। लिखा है कि

"ब्राह्मं लयं ब्रह्मदिनान्त काले
भूतानि यद् ब्रह्म तनुं विशन्ति" ।
(सि० शि० गो०)

इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्माके दिनान्त कालमें समस्त भूत प्राणी इसी ब्रह्मा नामक पिण्डमे प्रवेश करते हैं इससे जाना जाता है कि अवश्यमेव नक्षत्र और ग्रह धीरे धीरे इसी की ओर जारहे हैं ।

इस विषयमें पाश्चात्योंने भी वहुत कुछ विचार किया है। ज्योतिर्विनोद नामक पुस्तकके लेखकने पाश्चात्योंका ही मत लेकर लिखा है कि जहां तक हमारा ख्याल है, हमारा सूर्य नहीं चलता है लेकिन "डेल्टा लायरी" (अभिजित) नक्षत्रकी ओर सूर्यका जाना मालूम होता हैं। क्योंकि उसके नजदीक जानेके कारण उधरके नक्षत्र क्रमशः विशेप उज्वल दिखाई देते जाते हैं और दूर हटनेके कारण दक्षिणके नक्षत्र कुछ धुँधले होते जाते हैं। अर्थात् पाश्चात्योंके मतसे हमारा सूर्य अभिजित नक्षत्रकी तरफ जाता है। पूर्व लिखे अनुसार पूर्वाचार्यो के मतसे तो हमारे सूर्य और समस्त नक्षत्रोंका भिन्न २ गतियोंसे ब्रह्मा नामक नक्षत्रकी ओर जाना सिद्ध हो चुका है इसलिये इनमें कौनसा मत ठीक मानना चाहिये इसकेलिये यहा पर यह व्यवस्था हो सकती है कि एक तो ब्रह्माकी तारा है जिसका पूर्वमे वर्णन हो चुका है और दूसरी विष्णुकी तारा है जिसको अभिजित कहते हैं क्योंकि अभिजित नक्षत्रका

अधिष्ठातृ देवता विष्णु माना गया है लिखा है—

"नक्षत्राणां तथाभिजित्"

(भा० स्कं० ११)

अर्थात् नक्षत्रोंमें अभिजित विष्णुका रूप है। इसलिये जानाजाता है कि संसारके समस्त पिण्डतो ब्रह्माकी ओर जाते हैं। और ब्रह्माण्डके समस्त पिण्डोंको साथमे लेकर ब्रह्माजी विष्णु (अभिजित) की तरफ जाता है इसलिए पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही मत ठीक है हम तो केवल सूर्यके ही आश्रित हैं। इसलिए जिधर ब्रह्मा जाता है उधरही हमको हमारा सूर्य भी जाता दिखाई देता है। इसमे कोई भी वैमत्य नहीं है। जो वस्तु किसी एक वस्तुकी ओर जाती हो तथा वह वस्तु भी यदि किसी अन्य वस्तुकी ओर जाती होगी तो वह पहिली वस्तु भी अन्तकी वस्तुकी ओर जाती दिखाई देगी। इसी प्रकार यदि सूर्य ब्रह्माकी ओर जाता है और ब्रह्मा विष्णुकी तरफ जाता है तो सूर्यका भी विष्णुकी तरफ जाते दिखाई देना कोई बड़ी बात नहीं है। इसी कारणसे पाश्चात्यों ने सूर्यका विष्णुकी ओर जाना लिखा है वस्तुतः यह कोई पाश्चात्योंका मत नहीं है किन्तु पूर्वाचार्यों का ही मत है क्योंकि पूर्वाचार्य संसारका शासक ब्रह्माको मानते हैं और ब्रह्माका भी शासक विष्णुको मानते हैं इसलिये ब्रह्माका विष्णुकी तरफ जाना युक्ति युक्त ही है। मतलब यह है कि ब्रह्मा एक महान् अग्निमय लोक है और वह महदात्मक होता हुआ शान्ति वृत्तमें उसमें स्थित है।

दहरादि विद्याके बलसे उत्तरायण कालमें मरने वाले ज्ञानात्मा देव मार्गके द्वारा इसी ब्रह्मलोकमें जाते है और मुक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार कर्मयोगी पञ्चाग्नि विद्याके बलसे दक्षिणायन कालमें मरकर उसी देव मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर उल्टे चले आते है। इस विषयका विस्तार पूर्वक आगे निर्णय किया जायेगा यहांतो केवल इतना ही तात्पर्य है कि एक नक्षत्रात्मक तारे का नाम ही ब्रह्मलोक है

-चन्द्रलोक-

पूर्वमें लिखा जा चुका है कि कर्मियोंका सूक्ष्म शरीर चन्द्रलोक में जाता है और वहांपर कुछ कालतक रह कर सूक्ष्मफलोंका भोग करता है।

अब यहां प्रश्न यह होता है कि कर्मियोंकी गति चन्द्रलोकमे ही क्यों होती है? क्या कोई कर्मियोंके सूक्ष्म शरीरके साथ चन्द्रमाका सजातीय सम्बन्ध है? अथवा क्या कोई चन्द्रलोककी परिस्थिति (आवहवा) कर्मियोंको सूक्ष्म वाष्पके अनुकूल, सदृश अथवा सजातीय होती है? इन्हीं प्रश्नोंका यहां निर्णय करना है।

पहले निर्णय किया जा चुका है कि प्राणियोंका आदि स्वरूप या सूक्ष्मरूप वाष्प है। वाष्पसे ही प्राणी पुन.२ संसारमे उत्पन्न होते है। यह वाष्प (सूक्ष्मशरीर) इतना लघु (हलका) होता है कि पंच भौतिक शरीरसे अलग होते ही तुरन्त पृथ्वीकी छायाको, आगे चन्द्रमाकी छायाको मार्ग बनाकर चन्द्रलोक तक चला जाता है। इसमें विशेषता यह होती है कि यह पृथ्वीकी, अथवा चन्द्रमा

की छायाके अंधकारको छोड़कर इधर उधर प्रकाशमे कहीं नहीं जाता, क्योंकि कर्मियों (अज्ञानसे कर्म करनेवालों) का लिंग शरीर अंधकारका सजातीय होता है। अज्ञानपूर्वक कर्म करनेवालों का लिंग शरीर अन्धकारका सजातीय क्यों होता है ? इसका विवेचन आगे किया जायगा। यहा तो प्रकृत वात यही है कि लिंगशरीरका वजन अति लघु (हलका) होता है और भूपृष्ठका वायु अति गुरु (भारी) होता है, तथा हलकी वस्तु भारी वस्तुके ऊपर रहती है यह प्राकृत नियम है। इसलिये लिंगशरीर वहातक नहीं ठहर सकता जहां तक भूवायुकी परिस्थिति उससे वजनमे गुरु (भारी) होती है। भूवायु, भूपृष्ठके पास अत्यन्त गुरु है और क्रमशः भूपृष्ठसे अलग हटनेपर लघु होता जाता है। चंद्रमण्डल तक भी इसकी सत्ता किसी न किसी रूपमें अवश्य पाई जाती है. इसलिये लिंगशरीर भूवायुकी अपेक्षा लघु होनेके कारण, भूवायुमे जहातक अपनेसे गुरुता मिलेगी, वहा तक चला जायगा। यहापर एक वात यह भी ध्यानमे रखनेकी है कि अंधकारके विना, यह वायुमे भी नहीं चलता। इसलिए भू-छाया और चन्द्र-छायाको मार्ग वनाता हुआ भूवायुके सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरमे पहुंचता है, जहा चन्द्रमा है। चन्द्रमा पर कुछ काल तक ठहरता है और जब इस (लिंगशरीर) मे चन्द्रमाकी परिस्थितिकी अपेक्षा वजन अधिक होने लगता है तब वह चन्द्रलोकसे खिसकता है और क्रमशः पर्जन्य, वादल आदि परिस्थितिमे परिवर्तित होता हुआ इन्हींके शरीरको धारण करता है। इस परिवर्तनके गुरुता और लघुता हो

कारण है। अब कुछ चन्द्रमाकी परिस्थितिका वर्णन करदेना भी आवश्यक है क्योंकि चन्द्रमाकी परिस्थिति को जाने बिना लिंग शरीरकी उसके साथ तुलना नहीं कर सकते। इसलिए यह आव-श्यक है कि वहाका जलवायु कैसा है, पृथ्वीके जलवायु (परिस्थिति) से गुरु है या लघु, और लघु है तो उसमे कारण क्या है? यह पहले भी कई एक स्थानों पर लिखा जा चुका है कि सृष्टिकी रचना किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वाष्पसे होती है, जिसको प्रकृति कहते हैं। इसके भी परमाणु होते हैं। जब सृष्टि प्रलयोन्मुख होती है, तब सूर्य आदि ग्रहनक्षत्रोंके परमाणु अलग २ हो जाते हैं और जब सृष्टि सर्जनोन्मुख होती है तब वे ही परमोणु एकत्रित हो जाते हैं। वृष्टिके विषयमे साधारणसे साधारण मनुष्य जानते हैं कि जलके परमाणु आकाशमे रहते हैं लेकिन वे दिखाई नहीं देते। परन्तु जब वृष्टि वर्षणोन्मुख होती है तब वे ही परमाणु एकत्रित होजाते हैं और बादलके रूपमें होकर पानी बरसाने लगते हैं, तथा जब वृष्टिलयोन्मुख होती है तब वे ही बादल बिखर कर टुकड़े २ हो जाते हैं और अन्तमें आकाशमे लीन हो जाते हैं यही सृष्टिमें भी होता है।

जब सृष्टि रचनोन्मुख होती है तब उन बिखरे हुए वाष्प कणों मे परब्रह्माख्य परमात्माकी सकर्पणशक्ति (आकर्षणशक्ति) का संचार होता है, उसीसे उन परमाणुओंमे शक्ति उत्पन्न होती है और वे एकत्रित होने लगते हैं। जब वे कुछ एकत्रित होकर सृष्टिका कार्य करने लगते हैं तब एक प्रकारका शक्तिशाली वाष्प उत्पन्न

होता है और सब स्थानोंमे व्यापक रूपसे फैल जाता है। अर्थात् भूपृष्ठपर जैसे वायुमण्डल व्यापक रूपसे स्थित रहता है इसी प्रकार वह शक्तिशाली वाष्प भी सब ब्रह्माण्डमे व्यापक रूपसे भर जाता है। ऐसा कोई भी स्थान नही रहता जहांपर यह नहीं हो। इस शक्तिशाली वाष्पको प्राचीन तो "इन्द्र" कहते हैं और आधुनिक "इथर" कहते है। मालूम होता है कि "इन्द्र" का अपभ्रंश ही पाश्चात्योंका 'इथर' है। बात एक ही है केवल भेद इतना ही है कि प्राचीन आचार्य तो परमाणुओंमे आकर्षण शक्तिका अस्तित्व स्वाभाविक नहीं मानते, किन्तु ईश्वरकृत मानते हैं, परन्तु पाश्चात्य दार्शनिक प्रत्येक परमाणुको स्वाभाविक ही आकर्षणशील मानते हैं। इनमें प्राचीन आचार्योंकी युक्ति व्यापक एवं ठीक मालूम होती है। क्योंकि प्रत्येक परमाणुमे अलग २ आकर्षण शक्ति माननेकी अपेक्षा एक ही परमात्माके द्वारा शक्तिका प्राप्त होना मानना कुछ अधिक युक्तिसंगत और आस्तिकवाद है। इसलिये इन्द्र शक्तिका प्रत्येक परमाणु आकर्षणशील हो जाता है। मूल परिमाणुओंको आकर्षण शक्ति प्राप्त होनेके बाद जो वाष्पावरण (वाष्प समूह) बनता है उस समुदायका नाम प्राचीनोंने 'इन्द्र' शक्ति रखा है यह अत्यन्त ही युक्तिसंगत मालूम होता है। क्योंकि आकर्षणशक्तिहीन परमाणु, सृष्टि रचनादिकार्य करनेमे असमर्थ होते हैं। तथा "इन्द्र" शब्दका अर्थ ही सामर्थ्य सम्पन्न होता है, सामर्थ्यसम्पन्नको ही इन्द्र कहते हैं, अत. सामर्थ्यसम्पन्न परमाणु समुदाय से ही सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। यह समुदाय जहां अधिक सघन

मे एकत्रित हो जाता है उसका द्रव्य परिमाण अधिक होता है, और जिसका द्रव्य परिमाण अधिक होता है उसमें संकर्षण (आकर्षण) शक्ति भी अधिक होती है इससे यह सिद्धांत निकलता है कि जिन सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पिंडोंमेंसे, जिसमें द्रव्य परिमाण अधिक होगा उसमे संकर्षण शक्ति भी अधिक होगी। जैसे सूर्यका द्रव्य परिणाम पृथ्वीके द्रव्य परिमाणसे अधिक है तो सूर्यकी संकर्षण शक्ति भी पृथ्वीकी संकर्षण शक्तिसे अधिक होगा।

इसी प्रकार चन्द्रमाका द्रव्य परिमाण, पृथ्वीके द्रव्य परिमाणसे कम है तो पृथ्वीकी संकर्षण शक्तिसे चन्द्रमाकी संकर्षण शक्ति भी कम होगी। ज्योतिष शास्त्रके हिसाबसे भूमिकी अपेक्षा चन्द्रमा छोटा है इसलिए उसकी संकर्षण शक्तिका भी पृथ्वीकी संकर्षण शक्तिसे कम होना युक्ति युक्त ही है।

पिण्डके द्रव्य परिमाणानुकूल संकर्षण शक्तिका नाम ही "गुरुत्वाकर्षण" है। वस्तुओंमें "भार" क्या वस्तु है इसका विचार करनेसे निश्चय होता है कि कोई भी पिंड किसी वस्तुको अपने आकर्षणके द्वारा अपनी ओर खींचता है इस खिंचाव को ही "भार" कहते हैं। यह भी द्रव्य परिमाण पर निर्भर है। जैसे बराबरके पत्थरोंमें यदि द्रव्य परिमाण बराबर है तो किसी ऊंचे निर्वात स्थानसे छोड़ने पर पृथ्वी पर दोनों एक साथ ही पड़ेंगे। लेकिन उनमे से यदि एक पत्थरका टुकड़ा हो और दूसरा उतना ही बड़ा रूईका गेंद होता तो रूईके गेंदसे पत्थर पहले पड़ेगा क्योंकि जितने बड़े पत्थरका द्रव्य परिमाण होता है उतने ही बड़े रूईके गेंदका द्रव्य

परिमाण कम होता है तथा पत्थरकी अपेक्षा रूई अधिक स्थान घेरती है। परन्तु रूईका और पत्थरका यदि द्रव्य परिमाण बराबर होगा तो निर्वात स्थानमे किसी ऊंचे स्थानसे छोड़ने पर दोनों साथ ही जमीन पर पड़ेंगे। क्योंकि उनका द्रव्य परिमाण बराबर होने पर उन पर पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणका दबाव बराबर ही पड़ता है। एक बात यह भी है कि जिस ग्रह या पिंडका आकर्षण अधिक होता है उसके पृष्ठ पर उतनी ही बडी वस्तु पर उतना ही अधिक प्रभाव पडता है। जैसे पृथ्वी पर कोई मनुष्य सैकड़ों कदम कूद सकता है वह सूर्य पर एक कदम भी नहीं कूद सकता क्योंकि पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणसे सूर्यका गुरुत्वाकर्षण सैकडों गुणा अधिक है। अतः उसको अधिक दबाता है। इसीलिये पृथ्वी पर जो वस्तु एक मणकी होगी, वही सूर्य पर सैकडों मणकी होगी।

इसी प्रकार पृथ्वीका गुरुत्वाकर्षण चन्द्रमाके गुरुत्वाकर्षणसे अधिक है इसलिये पृथ्वी पर जो वस्तु मणकी होगी वह चन्द्रमा पर छटाकोंमे ही रह जावेगी। इसलिये यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि किसी पिंडके आकर्षण द्वारा किसी वस्तुके खींचे जानेका नाम "भार" है और वह भी पिंडके द्रव्य परिमाणानुसार कम और अधिक भी होता है।

गुरुत्वाकर्षणका प्रभाव वायुमंडलपर वा सूर्यादिकके प्रकाशपर भी पड़ता है। पृथ्वीका सम्पूर्ण वायुमंडलको अपने अधीन करता हुआ सूर्य चन्द्रमा तथा नक्षत्रादिकके प्रकाशमे [illegible] करता हुआ [illegible] ऐसी परिस्थिति (आच्छादना) बनाता है कि जो यह

भौतिक स्थूल शरीरके अनुकूल पड़ती है। और जिसमें प्राणी उत्पन्न हो सकता है तथा जी सकता है।

इसी प्रकार चन्द्रमा पर चन्द्रमाके गुरुत्वाकर्षणके द्वारा भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है कि जिसमें लिङ्ग शरीरके सदृश ही सूक्ष्म प्राणी ठहर सकते हैं। चन्द्रमाकी इस सूक्ष्म परिस्थितिका कारण उस का द्रव्य परिमाण और गुरुत्व सङ्कर्षणही है, पृथ्वीका हलकेसे हलका वायु चन्द्रमाके भारीसे भारी वायुसे भी भारी है। अर्थात् पृथ्वीके वायुको देखते चन्द्रमापर वायु नहीं के समान है। जो भी है वह इतना हलका है कि जिसकी उपमा हम लिंग शरीरके साथ ही दे सकते है। अतः यह सिद्ध होता है कि चन्द्रमा अल्पकाय है, उसमें गुरुत्व सङ्कर्षण कम है, इसीलिये वहांका वायुमंडल अत्यन्त सूक्ष्म हैं और अत्यन्त सूक्ष्म ही परिस्थिति (आबहवा) को बनाता है। इसीलिये चन्द्रमाको लिंग शरीरात्मक पितरोंके वास योग्य माना गया। पूर्वमें लिखा जा चुका है कि लिंग शरीर पृथ्वीकी अथवा चन्द्रमाकी छाया रूप द्युलोकके मार्गसे अलग कहीं नहीं जाता, लेकिन चन्द्रमा तक तो अवश्य जाता है। जब तक उसमे चन्द्रमाकी परिस्थितिके तुल्य ही गुण रहेगे तब तक तो वह चन्द्रमा पर ही निवास करेगा और जब वह सर्जनोन्मुख होता है तब चन्द्रपरिस्थितिकी अपेक्षा उसमे गुरुता आने लगती है, उसी कारणसे वह वहासे खिसककर पर्जन्यादि परिस्थितिको पकडता हुआ अन्तमे प्राणी रूपमें परिणत हो जाता है। सारांश यहहै कि चन्द्रमाकी परिस्थिति लिंग शरीरकी तरह सूक्ष्म है और उसकी सजातीय है। इसलिये चन्द्रमा पर लिंग शरीरका ठहरना

तथा इसी प्रकार उसकी दी हुई आहुतियोंके सूक्ष्म परिणामका भी चन्द्रमा पर जमा होना कितना युक्ति युक्त और वैज्ञानिक है। क्योंकि चन्द्रमाकी परिस्थिति, लिंग शरीर और उसकी दी हुई आहुतियोंका परिणाम, ये तीनों सूक्ष्म और आपसमें सजातीय होते हैं इसीलिये लिंग शरीरका और आहुतियोंके परिणामका चन्द्रमा पर ठहरना वैज्ञानिक है।

इसीलिये "असौवाव" इत्यादि श्रुतियोंमें लिखा गया है कि मनुष्यकी दी हुई सूक्ष्म आहुति और उसका लिंग शरीर, पृथ्वी और चन्द्रमाकी छाया रूप द्युलोकके मार्गसे चन्द्रलोकमे जाते हैं। और जब वहांके भोग समाप्त हो जाते हैं तब उनमें घनता आने लगती है इसी कारणसे वे पृथ्वीकी तरफलौटते हैं और क्रमशः पर्जन्य, वर्षा, अन्न, वीर्य आदिमें परिणत होकर प्राणी रूपमें परिणत होते हैं, पुनः अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं और पुनः चन्द्र लोकमे जाते हैं भोग समाप्ति पर पुनः पृथ्वी लोकमें चले आते हैं इस प्रकार वारम्वार आते जाते रहते हैं। इसीलिये संसारको संसार चक्र कहते हैं क्योंकि इसमें प्राणियोंको चक्रकी तरह घूमना पड़ता है। यही श्रुतियोंका सार है। देखिये श्रुतियोंमें सृष्टि विज्ञान (साइंन्स) विषयक कितना मसाला भरा हुआ है कि जहां तक अभी आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक नहीं पहुंच सके हैं।

जब तक मनुष्यको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है तब तक इस आवागमन रूपी चक्रसे निकल नहीं सकता। ज्ञान प्राप्तिके अनन्तर न तो इस मार्गसे इस लोकमें आना ही पड़ता है और न कहीं इस

मार्गसे इस लोकमें आना ही पड़ता है। कैसे २ मनुष्योंको किन किन मार्गोंसे जाना पड़ता है और किन २ मार्गोंसे गये हुये वापस लौटते हैं और किन २ मार्गोंसे गये हुये उलटे नहीं आते इन्हीं विषयोंका आगे वर्णन किया जायगा।

—मार्ग—

(देवयान पितृयाण)

पूर्वमें यह लिखा जा चुका है कि मनुष्यका गमनागमन कैसे होता है। परन्तु यह नहीं बतलाया गया कि किस २ स्थिति (निष्ठा) के मनुष्य किस २ मार्गसे जाते हैं, और किस मार्गसे गये हुये मनुष्यों का गमनागमन नहीं होता, तथा किस मार्गसे गये हुये मनुष्योंका गमनागमन होता है। इन्हीं प्रश्नोंपर यहां विचार करना है। यजुर्वेदमें लिखा है कि—

"द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च"

(यजु० १९-४७)

भाष्य—पितरं, द्युलोकं, मातरं पृथिवीं तयोर्मध्ये मर्त्यानां ये द्वे सृती अहं अशृणवं, के ते देवानां, उत पितृणाम्, ताभ्यामेवेदं, विश्व एजत् समेतीत्यर्थः।

अर्थ—द्युलोक और पृथिवी लोकके बीचमें मनुष्योंके जानेके लिये मैंने दो मार्ग सुने हैं जिनमें एकका नाम "देवयान" और दूसरे का नाम "पितृयाण" है। इन्हीं दोनों मार्गोंसे ज्ञान और कर्मके बलसे समस्त संसारी जाते हैं।

को सम्वत्सरको आदित्य (सूर्य) को चन्द्रमा नामक नक्षत्रको विद्युत नामक नक्षत्रको मार्ग बनाते हुये चले जाते हैं आगे ब्रह्म लोकसे अलौकिक पुरुष आकर इनको ब्रह्मलोकमें पहुंचा देते हैं यह देवयान मार्ग है।

छान्दोग्योपनिषत्‌के (४-१५-५)में इतना विशेष भी लिखा है कि "एष देवपथो ब्रह्म पथएतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते नावर्तन्ते' अर्थात यह देव पथ है या ब्रह्म पथ है इस मार्गसे जाने वाले पुनः लौट कर नहीं आते नहीं आते किन्तु ब्रह्म लोकमें जाकर मुक्त हो जाते हैं।

श्रुतिका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ज्ञानको नहीं प्राप्त करके केवल पञ्चाग्नि विद्याके बलसे अथवा अन्य किसी शुभ कर्मके बलसे ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं वे पुनः भी पृथ्वी लोकमें आकर जन्म ले लेते हैं लेकिन जो साकार ब्रह्मकी उपासना करते हुये ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वे ब्रह्मलोक निवासियोंके साथ रहते हुए और भी ज्ञान प्राप्त करके अन्तमें ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते हैं वे ब्रह्मलोकसे लौटकर यहां नहीं आते। इस प्रकारका महत्व रखनेवाला यह ब्रह्मलोक और देवयान मार्ग हैं।

इसी प्रकार भगवानने गीतामें भी कहा है, कि—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः"।

(गी०-८,२४)

अर्थात- अग्नि, ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष, और उत्तरायणके छ

आग, इस प्रकारके समय रूपी मार्गसे गये हुये ब्रह्मज्ञानी (साकारोपासक) ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुषकी आत्मा अग्नि स्वरूप होती है इसलिये अग्निकी अथवा प्रकाशकी सजातीय होती है। अतः पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तक यदि प्रकाश ही प्रकाश विद्यमान होता है, तब तो वह आत्मा उस प्रकाशित मार्गसे सीधी ब्रह्मलोकमें चली जाती है और उस प्रकाशित मार्गमें यदि किसी कारणसे अन्धकार उपस्थित हो जाता है तो ऐसे मार्गसे जानेमें उसको बाधा उपस्थित होती है अतः सीधा ब्रह्मलोकमें जानेके लिये पूर्वोक्त मार्गकी आवश्यकता होती है। मृतकको अग्निमे जलाना, इससे ज्वाला निकलना, आदिसे ही उसके मार्गका आरम्भ होता है, अतः पहले अग्नि फिर ज्योति (ज्वाला का प्रकाश) बादमे दिनका प्रकाश और रात्रि हो तो चन्द्रमाका प्रकाश उस मार्गको प्रकाशित करता है। यदि उत्तर ध्रुवस्थान पर ऐसी घटना हो तो उत्तरायणके छ मासोंकी भी आवश्यकता है, क्योंकि उत्तरायणके बिना वहां दिन होता ही नहीं इसलिये दिनके बाद छ मास लिये गये। मासों से ही संवत्सरकी पूर्त्ति होती है या यों कहिये कि उत्तरायणके आरम्भसे ही संवत्सरका आरम्भ होता है इसलिये मासोंके बाद संवत्सरकी प्राप्ति लिखी गई है, यहां तकको 'गति' कहते हैं सम्बन्ध रखती है, क्योंकि यहां तक पृथिवीकी छाया और चन्द्रमाकी छाया रूप अन्धकारका विघ्न पड़नेकी सम्भावना रहती है। बात यह है कि ब्रह्मलोक ऊपर है और उसके लिये सीधा

को सम्वत्सरको आदित्य (सूर्य) को चन्द्रमा नामक नक्षत्रको विद्युत नामक नक्षत्रको मार्ग बनाते हुये चले जाते हैं आगे ब्रह्म लोकसे अलौकिक पुरुष आकर इनको ब्रह्मलोकमें पहुंचा देते हैं यह देवयान मार्ग है।

छान्दोग्योपनिषत्के (४-१५-५)में इतना विशेष भी लिखा है कि "एष देवपथो ब्रह्म पथएतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते नावर्तन्ते' अर्थात यह देव पथ है या ब्रह्म पथ है इस मार्गसे जाने वाले पुन लौट कर नहीं आते नहीं आते किन्तु ब्रह्म लोकमें जाकर मुक्त हो जाते हैं।

श्रुतिका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ज्ञानको नहीं प्राप्त करके केवल पञ्चाग्नि विद्याके वलसे अथवा अन्य किसी शुभ कर्मके वलसे ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं वे पुनः भी पृथ्वी लोकमें आकर जन्म ले लेते हैं लेकिन जो साकार ब्रह्मकी उपासना करते हुये ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मलोकमे जाते हैं, वे ब्रह्मलोक निवासियोंके साथ रहते हुए और भी ज्ञान प्राप्त करके अन्तमें ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते हैं वे ब्रह्मलोकसे लौटकर यहां नहीं आते। इस प्रकारका महत्त्व रखनेवाला यह ब्रह्मलोक और देवयान मार्ग हैं।

इसी प्रकार भगवान्ने गीतामे भी कहा है, कि—

अग्निर्ज्योतिरह शुक्लःषण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः"।

(गी०-८,२४)

अर्थात- अग्नि, ज्वाला, दिन, शुक्लपक्ष, और उत्तरायणके छ

मास, इस प्रकारके समय रूपी मार्गसे गये हुये ब्रह्मज्ञानी (साकारोपासक) ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुषकी आत्मा अग्नि स्वरूप होती है इसलिये अग्निकी अथवा प्रकाशकी सजातीय होती है। अतः पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तक यदि प्रकाश ही प्रकाश विद्यमान होता है, तब तो वह आत्मा उस प्रकाशित मार्गसे सीधी ब्रह्मलोकमें चली जाती है और उस प्रकाशित मार्गमें यदि किसी कारणसे अन्धकार उपस्थित हो जाता है तो ऐसे मार्गसे जानेमें उसको बाधा उपस्थित होती है अतः सीधा ब्रह्मलोकमें जानेके लिये पूर्वोक्त मार्गकी आवश्यकता होती है। मृतकको अग्निमें जलाना, इससे ज्वाला निकलना, आदिसे ही उसके मार्गका आरम्भ होता है, अतः पहले अग्नि फिर ज्योति (ज्वाला का प्रकाश) बादमें दिनका प्रकाश और रात्रि हो तो चन्द्रमाका प्रकाश उस मार्गको प्रकाशित करता है। यदि उत्तर ध्रुवस्थान पर ऐसी घटना हो तो उत्तरायणके छ मासोंकी भी आवश्यकता है, क्योंकि उत्तरायणके विना वहां दिन होता ही नहीं इसलिये दिनके बाद छ मास लिये गये। मासों से ही संवत्सरकी पूर्त्ति होती है या यों कहिये कि उत्तरायणके आरम्भसे ही सम्वत्सरका आरम्भ होता है इसलिये मासोंके बाद संवत्सरकी प्राप्ति लिखी गई है, यहां तकतो "गति" कालसे सम्बन्ध रखती है, क्योंकि यहां तक पृथिवीकी छाया और चन्द्रमाकी छाया रूप अन्धकारका विघ्न पड़नेकी सम्भावना रहती है। बात यह है कि ब्रह्मलोक उत्तरमें है और उसमें जानेके लिये सीधा

रास्ता सूर्यलोकमें होता हुआ है इसलिये पृथ्वीसे लेकर सूर्यलोक तकतो सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित है, आगे चन्द्रमा नामक नक्षत्रसे प्रकाशित है।

देवमार्गकी श्रुतिमे जो चन्द्रमा लिखा है उससे पितृमार्गके चन्द्रमाको नहीं लेना चाहिये क्योंकि "न तेन दक्षिणा यान्ति' इस श्रुतिसे मालूम होता है कि पितृमार्गमे जानेके अधिकारी अर्थात् दक्षिणायन मार्गसे जानेवाले देवमार्गसे नहीं जा सकते अतः दक्षिणायन मार्गवालोंको इस चन्द्रलोककी प्राप्ति होती भी नहीं क्योंकि यह चन्द्रमा पितृमार्गके चन्द्रमासे भिन्न होता है। पितृमार्गका चन्द्रमातो वह लोक है जिसको हम प्रति दिन देखते हैं और जिसका पृष्ठ पर रात्रिके समय प्रकाश होता है लेकिन देवमार्गका चन्द्रमा इससे भिन्न है। वह एक प्रकारका विकारी तारा है जो चन्द्रमाकी तरह घटता बढता है इसीलिये इस प्रकारके तारे सोम (चन्द्र) तारा कहलाते है। इस प्रमाण केलिये देखो "ज्योतिर्गणित" कानक्षत्राध्याय, तथा भगोलचित्र अथवा "ज्योतिर्विनोद" नामक ग्रन्थका पृष्ठ १३९ इनको देखनेसे इनविकारी तारात्मक चन्द्रमाओंका भली प्रकारसे ज्ञान हो सकता है। इसलिये देव मार्गसे जानेवालोंके लिये पृथ्वीसे सूर्य तकतो सूर्यका प्रकाश मिलता है और आगे चन्द्रमा नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है इसी प्रकार आगे विद्युत नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है तथा इससे आगे स्वर्ग ब्रह्मलोक नामक नक्षत्रका प्रकाश मिलता है और यही

उनका प्राप्य स्थान है। उत्तरायण कालमें पृथ्वीकी छाया तो दक्षिणमे रहती है तथा सूर्य पृथ्वीसे उत्तरमें रहता है और उत्तरमें ही देवताओंका स्थान है एवं उत्तरमें ही ब्रह्मलोक है इसलिये पृथ्वीके उत्तरीय ध्रुव स्थानसे सूर्य,चन्द्र, विद्युत् आदि लोकोंसे जाता हुआ ब्रह्मलोक तक प्रकाशमय सीधा रास्ता पड़ा है। इसी रास्तेसे जानेके लिए भीष्म आदिने उत्तरायण कालकी प्रतीक्षा की थी।

जब दक्षिणायन होता है तब उत्तर ध्रुवकी ओर रात्रि रहती इसलिए शुक्लपक्षकी भी आवश्यकता होती है।

दक्षिणायनमें उत्तरीय ध्रुवस्थानसे देव मार्गमे जानेवालेकी गति प्रथम चंद्रमाके प्रकाशमे होती है और आगे सूर्यके प्रकाशमें होकर अन्तमे ब्रह्मलोकमे चली जाती है। लेकिन यह मार्ग जरा टेढ़ा हो जाता हैं, सरल मार्गसे जानेके लिए ही उत्तरायण काल प्रशस्त बतलाया गया है। इसी लिये उपनिषदोंने तथा गीताने इस मार्गका शुक्लगतिके नामसे उल्लेख किया है।

"शुक्ल कृष्ण गती ह्येते जगतः शास्वते मते" (गी०-८।२६)

अर्थात् एक शुक्ल (प्रकाशमय) गति (मार्ग) है, दूसरा कृष्ण (अन्धकारमय) गति (मार्ग) है ये समस्त संसारके सम्मत हैं।

शुक्लगति पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तक प्रकाशमयी है और कृष्णगति भूलोकसे चन्द्रमा तक अन्धकारमयी है और ये कालसे भी पूरा सम्बन्ध रखती हैं। इसी कारण इनमे प्रशस्तता और अप्रशस्तता रहती है। जैसे कोई ब्रह्मलोकमे जानेका अधिकारी

उत्तर ध्रुव स्थानपर प्राण छोड़ता है और उस समय दक्षिणायन तथा कृष्णपक्ष हो तो उसकी आत्मा १५ दिन तक तो वहा ही भ्रमण करती रहेगी, क्योकि प्रकाशके विना तो उसकीगति का आरम्भ ही नहीं होता और उस समय वहा अंधेरी रात होती है। जब शुक्लपक्ष होगा तब उसकी गतिका आरभ होगा, अत. यह भी तो एक प्रकारसे मार्गकी प्रशस्ततामें वाधा उपस्थित होती है इसी-लिये देवमार्गियोके लिये उत्तरायण काल ही प्रशस्त माना गया, क्योंकि उत्तरायण कालमें ये वाधा उपस्थित नहीं होतीं। इसी लिये गतियोंमें कालकी भी प्रधानता अवश्य ही है। गीतामें लिखा

"यत्रकाले त्वना वृत्ति मावृत्ति चैव योगिन.।
प्रयाता यान्ति त कालं वक्ष्यामि भरतर्पभ" (गी०-८।२३)

यहांपर भगवानने, कालका स्पष्ट उल्लेख किया है इसलिये कालों का आश्रय लेकर ही गतियोंका आरम्भ होता है। इस विषयका विशेष विचार आगे किया जायगा।

—पितृयाण—

"पितृ लोक"

पितृयागका विचार करनेके पहले जरा यह भी विचार कर लेना चाहिये कि "पितृयाग" शब्दका अर्थ क्या है। यहां व्याकरणकी रीतिसे 'पितृयाग" शब्दकी व्युत्पत्ति "पितृणां यानं पितृयाणं" अर्थात् पितरोंका जो यान (मार्ग) उसको पितृयाण कहते हैं। तथा "पितृ लोकानां यानं पितृयानं" यह भी व्युत्पत्ति हो सकती है।

जिसका अर्थ यह है कि पितृलोकोंका जो यान [मार्ग] उसको पितृ-याण कहते हैं।

यहाँ दोनों ही व्युत्पत्ति ठीक हैं, क्योंकि "पितृयाण" शब्दसे, पितरोंके जानेका मार्ग भी लिया जाता है और पितृलोकोंका मार्ग भी लिया जाता है बात एक ही है। जो पितरोंके जानेका मार्ग है वही पितृलोकोंको भी जानेका मार्ग है, इसलिये पितृलोकोंके प्रति पितरोंके जानेका मार्ग ही "पितृयाण" शब्दका अर्थ है।

इससे एक यह बात भी प्रगट होती है कि जहा पितरोंका रास्ता जाता है तो वहा कोई न कोई पितृलोक भी अवश्य होते हैं। इस बातको हमे वेद बतलाते है लिखा है कि—

"शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः। पितृषदने त्वां लोक आसादयामि"

(अथर्व १८-४-४७)

अर्थ—पितरोंके बैठनेके लोक शोभाको प्राप्त हों, और पितरों के बैठनेके लोकमे तुझे बिठलाता हू। इससे मालूम होता है कि पितृलोक अनेक हैं और कोई व्यक्ति विशेष अपने पितरको उन्हीं पितृलोकोंमें से किसी एक पितृलोकमें बिठलाता है।

यह दूसरा मंत्र भी इसी बातकी पुष्टि करता है कि--

"एतदारोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीयन्ते।
अभिप्रेहिमध्यतोमापहास्था. पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र"

(अथर्व १८-२-७३)

अर्थ—उन्मृजान [त्वं]=शुद्ध होया हुआ तू। एतत् वय आरोह=इस आकाश (अन्तरिक्ष) को चढ़। इह स्वा बृहदुदी-

यन्ते=यहा तुम्हारे कुटुम्बी सब तरहसे समर्थ हैं अर्थात् इनकी चिन्ता मतकर। इसलिये "एवां मध्यतः अभिरोहि=इनके मध्यमें जा, और "पितृणां लोकं मापहास्था"=पितरोंके लोकको मत छोड। यः=जो पितृलोक। "अत्र" इन पितृलोकोंमें या पितृलोकोंके मार्गमें। "प्रथमः"=पहला पितृलोक है।

इस मंत्रसे भी मालूम होता है कि पितृलोक हैं और वे अनेक संख्यामें हैं।

अब यहां पर ये पितृलोक कहां कहां पर कैसे कैसे हैं इस बात को आगेके मंत्र बतलाते हैं। (पहला पितृलोक पृथ्वी है)

'स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः'

(अथर्व १८ ४-७८)

अर्थात् पृथ्वी पर स्थित पितरोंके लिये स्वधा हो। इससे जाना जाता है कि पितृलोकोंमेंसे प्रथम पितृलोक पृथ्वी पर है।

(पितृलोक अन्तरिक्ष)

"स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः"

(अथर्व १८-४-७९)

अर्थात् अन्तरिक्षलोकमें स्थित पितरोंके लिये स्वधा हो। इससे जाना जाता है कि दूसरा पितृलोक अन्तरिक्ष है।

(पितृलोक-द्यु)

'स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः'

(अथर्व १८-४-८०)

अर्थात—द्युलोकमें रहने वाले पितरोंके लिये स्वधा हो। इससे मालूम होता है कि तीसरा पितृलोक "द्यु' है।

उपरोक्त तीनों मन्त्रोंसे सिद्ध होता है कि 'पितृलोक' क्रमसे "पृथ्वी" "अन्तरिक्ष", और "द्यु" लोकमें है। लेकिन कहां तक पृथ्वीका पितृलोक है और कहां तक अन्तरिक्षका, तथा कहां तक "द्यु" का पितृलोक है, इस बातकी व्यवस्था निम्नलिखित मंत्र बतलाता है।

"उदन्वती द्यौ रवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौ रिति यस्यां पितर आसते'
(अथर्व १८-२-४८)

अर्थ—(उदन्वती)=पानी वाली, जिसमे जलके भरे बादल रहते हैं अर्थात् जहासे बादल वृष्टि करना आरम्भ करते हैं, वह (द्यौ)=पितृलोक, या आकाशीय भाग, (अवमा) पहला है। अर्थात् जिस मंत्रमे पितृलोकको पृथ्वी पर वतलाया है उस पितृलोककी अवधि पृथ्वीसे लेकर बादलों तक है। या यो कहिये कि मेघोंका स्थान पृथ्वीका पितृलोक है। (पीलुमतीतिमध्यमा) जिस आकाशमें पानीके सूक्ष्म परमाणु रहते हैं, उसको मध्यकी "द्यु" कहते हैं, या यों कहिये कि जिस मंत्रमें एक पितृलोक अन्तरिक्षमें वतलाया है वह मध्यकी 'द्यु' (पितृलोक) है। अर्थात् मध्यकी "द्यु" ही अन्तरिक्षका पितृलोक है। (तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यांपितर आसते)=तीसरी निश्चय ही "प्रद्य" नामकी द्यौ है, जिसमे पितर बैठते हैं, यह तीसरी "प्रद्यौ" चन्द्रमा है जिसके तट पर जाकर पितर बैठते हैं, या निवास करते हैं। इस मंत्रके "तृतीया ह प्रद्यौ रीति यस्यां पित आसते" इस वचनसे एक यह

भी बात सिद्ध होती है कि पितृलोकोंमेंसे पृथ्वी और अन्तरिक्षके पितृलोकोंमें, पितर ठहरते नहीं, और तीसरे प्रद्यौ नामक पितृलोकमें अथवा चन्द्रमा नामक पितृलोकमें ही पितर ठहरते हैं इसलिये पृथ्वी के और अन्तरिक्षके पितृलोकको चन्द्रलोकके स्टेशन मात्र समझने चाहिये। यहां ठहरनेका अर्थ निवास करना है।

इन मंत्रोंका सार यही है कि मनुष्य मरनेके बाद अपने कर्मोंके अनुसार मास, दिन, रात, पक्ष आदिको मार्ग बनाता हुआ पृथ्वी लोकसे पितृलोक (जहां बादल हैं) में जाता है, और पितृलोक से आकाश (अन्तरिक्ष) लोक (जहां जलके सूक्ष्म परमाणु हैं) में, तथा आकाशलोकसे चन्द्रलोकको प्राप्त होता है जिसको प्रद्यौ भी कहते हैं।

यद्यपि पितृलोक और आकाशलोक ये दोनों चन्द्रलोकके मार्ग के एक प्रकारके स्टेशन हैं, परन्तु जिसका सुकर्म प्रथम स्टेशन तक पहुंचनेका ही होता है, वह तो मरनेके बाद केवल बादलों तक ही जाकर पुन: पृथ्वीमें लौट आता है और जन्म ग्रहण कर लेता है, तथा जिसका पुण्य द्वितीय स्टेशन तक जानेका होता है वह अन्तरिक्ष तक जाकर उलटा ही पृथ्वी पर आकर जन्म ले लेता है और जिसके कर्म तीसरे स्टेशन (चन्द्रलोक) तक पहुचनेके होंगे वह चन्द्रलोकमे जाकर सूक्ष्म फलोंका भोग करता है और वह सबसे उत्तम पितृलोकमे गया हुआ माना जाता है, इसलिये वैदिक पितृ-लोकोंमें, चन्द्रलोक मुख्य है जिसके लिये वेद भी कहता है कि "यस्या पितर आसते" जिसमें जाकर पितर बैठते हैं, इसलिये अन्य

पितृलोक (आकाश; अन्तरिक्षादि) इसकी अपेक्षा गौण हैं, या चन्द्रलोकके मार्गके स्टेशन मात्र हैं।

परन्तु संभव है कि कोई पितर अपने कर्मानुसार किसी स्टेशन तक ही जा सकता है, इसलिए श्राद्ध करने वालोंको सब स्टेशनों पर निमंत्रण दे देना चाहिये जिससे कोई भी पितर बाकी न रह सके। इसी लिये वेद मन्त्रोंमें कह दिया है कि "स्वधा पितृभ्यः पृथिवीषद्भ्यः" और "स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः" "स्वधा पितृभ्योदिविषद्भ्य." श्राद्धकर्ताओंके द्वारा इन मन्त्रोंके बोलनेसे जिस भी स्थान पर पितर होते हैं शीघ्र श्राद्धमें चले आते हैं इसलिये सिद्ध होता है कि पितृलोक अवश्य होते है।

—पितृयाण--

पूर्वोक्त पितृलोकोंमे जानेके लिये जो मार्ग हैं उनको पितृयाण कहते हैं उन मार्गोंको वेद बतलाते हैं।

"प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजाना स्वधयामदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम्"।

(ऋ० १०-१४-७)
(अथर्व १८-१-५४)

अर्थ—उन्हीं मार्गोंसे जा, जा, जिन मार्गोंसे तुम्हारे पूर्व पितर गये हैं जहां स्वधासे मोद करते हुये वरुण और यम राजाओंको देखेगा। इस मन्त्रमें कोई पुत्रादिक अपने पितरको, पितृयाणोंके द्वारा पितृलोकमें जानेके लिये कहता है और वहां पर होने वाले अमृतपान आदि भावी सुखोंका प्रलोभन देकर उसको उत्साहित

जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कोई न कोई पितृयाण नामक मार्ग अवश्य हैं। इसी बात को निम्नलिखित मन्त्र भी सिद्ध करता है।

"अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणा स्याम।
ये देवयाना पितृयाणाश्च लोकाः
सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम"।
(अथर्व ६-११७ ३)

अर्थ—इस प्रथम द्यु वाले पितृलोकमें हम अनृण हों, और दूसरे अन्तरिक्ष वाले द्युलोकमें भी हम अनृण हों, तथा तृतीय प्रद्यो नामक तीसरे पितृलोकमें भी हम अनृण हों। और जो देवयान मार्ग वाले लोक हों, अर्थात् देवयान मार्ग जिन लोकोंमें जाता हो, तथा पितृयाण मार्ग जिन लोकोंमें जाता हो उन समस्त लोकोंमें, तथा उन लोकोंको जाने वाले मार्गोंमें, हम अनृण होकर विचरण करें। इस मन्त्रसे भी यही सिद्ध होता है कि कोई न कोई देवयान और पितृयाण नामक मार्ग अवश्य हैं और इन्हींके द्वारा समस्त विश्वके प्राणी अपने अपने लोकोंमें जाते हैं।

परलोकमें जानेके लिये प्राणियोंके दो ही मार्ग हैं, यह बात आगेका मन्त्र बतलाता है।

द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्या मिदं विश्व मेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च"।
(ऋ० १०-८८-१५)
(यजु० १९ ४७)

इसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है, तथापि तात्पर्य इतना ही है कि मनुष्योंको परलोकमे जानेके लिये 'देवयान' और "पितृयाण" नामक दो मार्ग हैं, उन्हींके द्वारा यह समस्त विश्व आता जाता है जो पृथ्वी और द्यौके बीचमें हैं। अर्थात् ये दोनो मार्ग पृथ्वी और द्युलोकके बीचमें स्थित हैं।

इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों मार्गों से ही प्राणियोंका इस लोकसे परलोकमें और परलोकसे इस लोकमें आवागमन होता है। अब यदि यह आशका हो कि इन मार्गोंके द्वारा प्राणियांको परलोकमें कौन किस प्रकार पहुचाता है, तो नीचेका मन्त्र बतलाता है कि मृतक पितरोंको अग्नि ही पुण्यात्माओंके लोकोंमें पहुंचाता है।

"आरोहत जनित्रीं जातवेदस. पितृयाणै सं व आरोहयामि।
अव्याट् हव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके"।
(अथर्व-१८-४-१)

अर्थ—(हे जातवेदस)=हे अग्निगो! तुम (जनित्रीं)=उत्पादक "सूर्यकी सूक्ष्म रश्मियोंपर, (आरोहत)=चढो, मैं (व)=तुमको (पितृयाणे.)=पितृयाण मार्गोंके द्वारा, (आरोहयामि)=पहुचाता हू, और (ईषितोहव्यवाह.) इच्छित फलोंको देनेवाला यह अग्नि, (हव्या अव्याट)=हव्योंको पहुचाता है, और हे अग्निगो! तुम (युक्ता)=एकत्रित होये हुए, (ईजान)=इस यज्ञ करनेवाले यजमान को, (सुकृतां)=पुण्यात्माओंके (लोके)=लोकमे,(धत्त)=लेजाओ।

इस मंत्रसे यह बात साफ मालूम होती हैं कि मृतक पुरुषकी गतिका आरम्भ अग्निके द्वारा होता है, और वह अग्नि भी अपनी

जनक शक्तिके पास जाता है तथा अग्निके द्वारा किये हुए मनुष्यके शरीरके सूक्ष्म वाष्पको सूर्यकी रश्मियां ही पितृलोकोंमें पहुंचाती हैं इस बातका विवरण पहले भी हो चुका है।

पूर्वोक्त वैदिक मंत्रोंसे यह बात एकदम सिद्ध होती है कि "पितृलोक" हैं और उन लोकोंमें जानेके लिये पितृयाण नामक मार्ग भी हैं, तथा उन मार्गोंके द्वारा अग्नि तथा सूर्यकी रश्मियां मृतक पितरोंके सूक्ष्म शरीरोंको पितृलोकोंमें पहुंचाते हैं। यही बात छांदोग्योपनिषत्‌की श्रुति द्वारा एकदम साफ हो जाती है।

छांदोग्योपनिषद्‌की देवयानकी श्रुतिमें कहा है कि जो पुरुष वनमें जाकर मुक्तिके लिये पञ्चाग्नि विद्याको जानता हुआ तप करता है वह देवयान मार्गके द्वारा ब्रहमलोकमें जाता है और ब्रह्मलोक निवासियोंके साथ ही मुक्त हो जाता है। यदि ज्ञानी होता है तो मुक्त हो जाता है और ज्ञानी न होनेपर जो केवल पञ्चाग्नि विद्याके बलसे ही ब्रह्मलोकमें जाता है तो उसका फिर भी इस लोकमें आगमन होता है।

और जो ज्ञानके बिना केवल अच्छे २ कर्म ही करते हैं वे पितृयाण मार्गके द्वारा चंद्रलोकमें जाते हैं और पुण्यक्षीण होनेपर पुनः इसी लोकमे चले आते हैं इसी बातको श्रुति कहती है।

"अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तेदत्त मित्युपासते
ते धूम मभिभवन्ति, धूमाद्रात्रिँ रात्रे रपरपक्ष,
मपरपक्षा द्यान्षड् दक्षिणेतिमासा स्तान्,
नैते सम्वत्सर मभिप्राप्नु वन्ति"। (छां०-५-१०-३)

अर्थ— 'इष्ट" जो अग्नि होत्रादिक बैदिक कर्म और "पूर्त्त" जो वापी, कूप तड़ागादि निर्माण, तथा "दत्त" जो योग्य पुरुषोको दान देना, इत्यादिक कर्मों के द्वारा जो ग्राम ही मे रहते हुये उपासना करते है वे मरनेके वाद धूम (धुवा) के सजातीय होनेके कारण प्रथम धुए के रूपमें होकर धुए को ही मार्ग बनाते हैं, धुए के अन्धकारसे रात्रिके अन्धकारको मार्ग बनाते हैं, रात्रिसे कृष्ण पक्षके अन्धकारको, कृष्णपक्षसे दक्षिणायनके अन्धकारको मार्ग बनाते हैं, ये सम्वत्सरको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योकि सम्वतसर सौर मानसे होता है, वह सूर्यसे अथवा उत्तरायणसे सम्बन्ध रखता है, "वर्षायनर्त्तु युग पूर्वक मत्र सोरात्" अर्थात् वर्ष, अयन, ऋतु, युग आदि सौर मानसे होते हैं इसलिये दक्षिण मार्गसे जाने वाले सम्वत्सरको नहीं प्राप्त होते है।

वस्तुतः उत्तरायणको प्राप्त होना ही सम्बत्सरको प्राप्त होना है, क्योंकि उत्तरायणसे ही सम्बंत्सरका आरम्भ होता है। इसलिये इनका सम्बत्सरको नहीं प्राप्त होना युक्तिसंगत ही है। आगे लिखा हैं कि—

"मासेभ्य· पितृलोकं, पितृलोका दाकाशं, आकाशाच्चन्द्रमसं एष सोमोराजा तद्देवाना मन्नं तद्देवा भक्षयंति"।

(छां०-५-१०-४)

अर्थ—पूर्वोक्त दक्षिणायनके छः मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाश लोकको मार्ग वनाता हैं और आकाश लोकसे चन्द्रलोकको जाकर प्राप्त होता है यह सोमराजा देवता (पितरों)का अन्न (भोग्य)

होता है उसको देवता (पितर) भक्षण करते (भोगते) हैं। अर्थात् सोम-राजापर एकत्रित होये हुये अपने अमृतरूपी सूक्ष्म फलोंका भोग करते हैं। उपरोक्त पितृलोक, आकाश लोक, और चन्द्रलोक आदिका पहले ही निर्णय हो चुका है कि ये लोक क्या हैं और कहा २ पर उनकी स्थिति है।

इस प्रकारके पितृयाण मार्गसे चन्द्रलोकमें जाकर ये पितर अपने किये हुये अग्नि होत्रादिकर्मोंके सूक्ष्म फलोंका उपभोग करते हैं और जब तक भोग पूरे नहीं होते तब तक चन्द्रलोकमें ही रहते हैं। लेकिन जब उनको श्राद्धके समय याद किया जाता है तब तो भोग की समाप्तिके पहले भी वे कुछ समयके लिये यहां आते हैं यह बात निम्नलिखित मंत्रसे सिद्ध होती है।

आयातः पितरः सोम्या सो गम्भीरैः पथि भि पितृयाणैः
आयु रस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषै रभिनः सचध्वम्।
[अथर्व १८-४-६२]

अर्थ— [सोम्यासः पितरः] =हे सोम [चन्द्रमा] पर रहने वाले पितरो, [गंभीरैः पितृयाणैः पथिभि,] = बड़े भारी लम्बे चोड़े पितृयाण नामक मार्गोंसे [आयात]=आओ और [अस्मभ्यं] = हमको [आयुः प्रजां च रायश्च दधतः] = आयु, सन्तान, धन आदि सम्पति दो। और (पोषैः)=पुष्टि कारक सामग्रीसे [नः]= हमको, [अभिसचध्वं] = सब तरहसे युक्त करो।

इससे सिद्ध होता है कि पुत्रादिकके प्रार्थना करनेपर भोगक्षयों के पहले भी श्राद्धादिकके समय इस लोकमे आते हैं।

भोगक्षयोंके बादमें तो इस लोकमें आनेके लिये छांदोग्योपनिषत् साफ साफ कहता है कि—

"तस्मिन् यावत्सम्पात मुषित्वा,ऽथैत मेवा ध्वानं
पुनर्निवर्त्तते। यथैत माकाश, माकाशाद् वायुं,
वायु भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वा अभ्रं भवति।"

(छां० ५-१०-५)

अर्थ—अपने समस्त दिव्य भोगोंको चन्द्र लोकमें ही भोग कर तथा उतने ही काल तक वहा रह कर जिस मार्गसे जाते हैं उसी मार्गसे पुनः लौटते हैं जैसे चन्द्रलोकसे आकाश लोकको, आकाशसे वायु लोकको वायुसे धूमको, धूम होकर अभ्र (सूक्ष्म बादल) होता है, तथा मेघ होकर बर्षता है और वर्षासे इस (पृथ्वी) लोकमें चावल, यव (जौ), औषधि वनस्पति, तिल और उड़द आदि अन्नोंके रूपमें परिणत होता है। अत इस प्रकार वर्षाकी धारा रूपसे, पर्वत आदि कठिन स्थानोंमें पड़ता है, इसी लिये इस प्रकार के परलोकसे आनेको शास्त्रोंमे पितरोंका पतन कहते हैं। यदि किसीके बहुतसे पुण्य होते हैं तो वह चन्द्रलोकमे ही आनन्द करता रहता है उसका पतन नहीं होता, अथवा जिसके पुत्र पौत्रादिक, श्राद्धादिकके द्वारा उसको सहायता पहुंचाते रहते हैं तोभी उसका पतन नहीं होता है इसी लिये भगवान्ने गीतामें भी कहा है कि—

"पतन्ति पितरो ह्येषा लुप्त पिण्डोदक क्रियाः"

अर्थात् जिन पितरोंकी "पिण्ड" और "तर्पण" आदि जल क्रिया लुप्त हो जाती है उन्हींका पूर्वोक्त रीतिसे पतन होता है, अन्यथा

तो पुत्रादिकके द्वारा दिये हुये श्राद्धीय पिण्डादिकके सूक्ष्म फलोंको चन्द्रलोकमें ही भोगते रहते है।

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति
त इह व्रीहि यवा औषधि वनस्पतय स्तिल माषा
इति जायन्ते। अतो वै खलु दुर्निष्प्रयतरं
योयो ह्यन्न मत्ति यो रेतः सिंचति तद् भूय एव भवति।
(छां०-५-१०-६)

अर्थ—अन्नके रूपमे परिणत होनेके बाद जो जो अन्न खाता है और जो जो वीर्य सींचता है इससे पुनः इसी संसारमें जन्म ले लेता है।

जिस योनि वाला प्राणी उसको खाता है, कर्मानुसार उसी योनि में उत्पन्न हो जाता हैं, इसीको श्रुति कहती है

"तद्य इह रमणीय चरणा अभ्यासो ह यत्ते
रमणीयायोनि मापद्येरन्, ब्राह्मण योनिं
वा क्षत्रिय योनिं वा वैश्य योनिं वा,
अथ कपूय चरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूया
योनि मापद्येरन्, श्व योनिं वा सूकर योनिं वा चाण्डाल योनिं वा"
(छां० ५-१०-७)

अर्थ—जिस प्राणीके स्वकीय पुण्य कर्मोसे, पुण्य भाव हो जाते है अथवा रमणीय भाव हो जाते है वे चन्द्रमंडलपर स्वर्गीय भोगोंको भोगकर इस लोकमे आकर अपने भावोंके अनुसार रमणीय योनियोंको प्राप्त होते हैं जैसे ब्राह्मण योनिको, या क्षत्रिय

योनिको, या वैश्य योनिको। और जिन पुरुषोंके पापाचरणके अभ्याससे पापात्मक भाव हो जाते हैं वे पाप योनियोंको प्राप्त होते हैं जैसे सूअर योनिको, कुत्ते की योनिको या चाण्डाल योनिको तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्मोंसे मनुष्यके अनुशय (भाव) उत्तम होते हैं इसलिए उत्तम योनियोंको प्राप्त होता है और नीच कर्मों से मनुष्यके भाव नीच हो जाते हैं इसलिए उसको नीच योनियों मे जाना पडता है। ये भाव लिंग शरीरके साथ ही रहते हैं।

"अथैतयो पथोर्न कतरेण चनतानी मानिक्षुद्राण्य
सकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व
मृयस्वे त्ये तत्तृतीयं स्थानं तेनासो लोको न सम्पूर्यते
तस्मात् जुगुप्सेत तदेष श्लोकः" ।

(छा ५-१०-८)

अर्थ—जब मनुष्य न तो मुक्तिके योग्य होकर देवयानसे ही जाता है, और न कर्म भोगके लिए पितृयानसे चन्द्रलोकमे ही जाता हैं अर्थात् इन दोनों ही मार्गोंमें जानेके योग्य नहीं होता हे तब वह ईश्वरकी इच्छासे यहा ही क्षुद्र योनियोंमे जन्म लेता है और यहा ही मरता है, जैसे दंश मच्छर, कोट पतंगादि चतुर्मास के प्राणी होते हैं। यह तीसरा मार्ग भी कहा है जिससे यह लोक भर नहीं सके और सबका आवागमन होता रहे। यद्यपि मार्ग दो ही है, यह तीसरा मार्ग तो केवल पितृयाण मार्गका पहिला स्टेशन मात्र है ये प्राणी तो केवल मेघ मंडलतक जाते हैं और वहां बादल के रूपमे परिणत होकर वर्षाके साथ वर्षकर पृथ्वीके साथ संयोग

पाते ही प्राणी रूपमें परिणत हो जाते हैं इसीलिए चतुर्मासमें पृथ्वी अनेक प्रकारके क्षुद्र प्राणियोंसे व्याप्त हो जाती है और चतुर्मासके बाद पुन वे सबके सब प्राणी नष्ट हो जाते है यह बात संसारमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। मार्ग दो होनेपर भी गुणों के तारतम्यसे तीसरे मार्गका भी निर्देश किया गया है, जैसे केवल सत्व गुण प्रधान अथवा त्रिगुणातीत ज्ञानियोंके लिए कोई भी मार्ग नहीं है, वे निराकारोपासक होते है, और वे यहां ही ब्रह्ममें लय हो जाते है, उनको किसी भी मार्गसे जानेकी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु सत्व और रजोगुणके संयोगसे उत्पन्न होने वाले प्राणी देवमार्गसे जाते हैं और वे साकारोपासक होते हैं। रजोगुण और तमोगुणकी समष्टिसे उत्पन्न होनेवाले कर्मी पितृ यान मार्गसे जाते हैं। क्योंकि उनमें कर्मके अतिरिक्त कोई बल नहीं होता, वे ज्ञान शून्य होते हैं। तथा जो केवल तमोगुणी वृत्ति वाले होते है वे तीसरे असकृत आवृत्ति वाले मार्गमे जाते है और बारम्बार जन्म मरण धारण करते रहते है कर्मोके भोगोंसे ही उनके कर्म क्षीण होते हैं और तभी वे ज्ञानमें प्रवृत्त होकर मुक्ति का मार्ग ढूँढते हैं इसीलिए यह तीसरा मार्ग अत्यन्त निन्दित है अलग न होकर पितृमार्गका ही केवल स्टेशन मात्र है।

(सारांश)

मनुष्यादिक प्राणियोंके आवागमनके लिए इन दो मार्गोका होना वस्तुत. युक्तियुक्त ही है क्योंकि भूपृष्ठपर स्थित यावन्मात्र वस्तुओं पर विशेष प्रभाव डालने वाली सूर्य और चन्द्रमा ये दो ही शक्ति हैं

इन दो ही शक्तियोंके द्वारा पृथ्वीके समस्त पदार्थ हर समय आकर्षित और प्रभावित होते रहते हैं ।

यद्यपि भूपृष्टपर सूर्य और चद्रमाके अतिरिक्त ब्रह्मा आदि नक्षत्र पिण्डोंका भी प्रभाव पडता है, लेकिन यह भी सूर्य चन्द्रमाके द्वारा ही पडता है, या यों कहियेकि पृथ्वी लोक रूपी राज्यके सूर्य और चन्द्रमा एक प्रकारके राजाओर जिला मजिस्ट्रेट है । अर्थात् ब्रह्मलोक सम्राट है ओर सूर्य नवग्रह रूपी देशोंका राजा है। तथा चन्द्रमा पृथ्वी रूपी एक जिलाका शासक है । ब्रह्म लोकका प्रभाव नक्षत्र सूर्य, चन्द्रमा, और पृथ्वी आदि सभी पर समान रूपसे पडता है लेकिन भूपृष्टपर जितना सूर्य और चन्द्रमाका प्रभाव पडता है उतना किसी भी अन्य पिंडका नहीं पडता इसलिए भू पृष्ट पर विशेप प्रभाव डालने वाली ये दो ही शक्ति हैं ।

सूर्य चन्द्रमा भी जितना अपने सजातीय पदार्थ पर प्रभाव डालते हैं उतना अन्य पर नहीं डालते ।

"जल" चन्द्रमाका विशेष सजातीय है इसलिये जल पर उसका विशेप प्रभाव पडता है इसका जुवार भाटेके समय प्रत्यक्ष अनुभव होता है अर्थात् चन्द्रमाके आकर्षणसे ही जुवार भाटा होता है। यद्यपि आधुनिकोंने चन्द्रमा पर जलका अस्तित्व नहीं माना है लेकिन प्राचीनोंने तो इसको जलका गोला या अमृत मय मान लिया है वेदमे लिखा है कि.—

"सोमो राजाऽमृत ँ सुत । ऋजीपेणा जहान्मृत्युम् ।

(यजु० १९-७२)

अर्थ— सोमराजा चारों तरफसे चोता हुआ अमृत है। और भी लिखा है।

"तरणि किरण सङ्गा देश पीयूष पिण्डोः।
अमृत रश्मी श्रीश्च यस्माद् बभूव"

(सि० शि० गो०)

सिद्धांत शिरोमणिके उपरोक्त दोनों स्थानों पर चन्द्रमाको अमृत पिण्ड और अमृत रश्मी कहा है तथा श्रीपति सिद्धातमे चन्द्रमाको जलमय भो लिखा है।

धाम्ना धामनिधे रयं जलमया धत्ते सुधा दीधितिः।
सद्यः कृत्त मृणाल कंद विशद् च्छायां विवस्वद्दिशि।
हर्म्ये घर्म घृणेः करै र्धटइ वान्य स्मिन् विभागे पुन र्वाला
कुन्तल कालतां कलयति स्वच्छा तनोश्छायया"।

यहां तथा ज्ञानराज दैवज्ञने भी "भानु श्चेव प्रति विम्बितो जलमये" यहा जलमय ही लिखा है।

इसी प्रकार वेदोमें भी चन्द्रमाको जलमय और अमृतमय ही लिखा है। यहापर यदि यह आशङ्का हो कि चन्द्रमा पर आधु-निकोंने तो जलका अस्तित्व ही नहीं माना और प्राचीनोने तो इसको जलमय तथा अमृत मय तक भी लिख डाला इसकी क्या व्यवस्था हो सकती है इसकी व्यवस्था यह है कि आधुनिकोंने जो चन्द्रमा पर जलका अभाव माना हैं उसका तात्पर्य यह है कि वहां पर जल स्थूल रूपमें नहीं है किन्तु सूक्ष्म (अमृत) रूपमे अवश्य है। किसी भो वस्तुका सूक्ष्म रूप ही अमृत (मरण धर्म रहित) या

नित्य कहलाता है इसीलिए प्राचीनोंने चन्द्रमाको अमृत मय लिखा है। जलसे भी सूक्ष्म जल ही लेना चाहिए इसलिए आधुनिक और प्राचीनोंके मतमें कोई भेद नहीं है।

पुराणोंमें चन्द्रमाको समुद्रसे उत्पन्न होया हुआ लिखा है और जहा समुद्र है वहा अत्यन्त गहरे गढे भी हैं जो इस समय जलसे भरे हुये समुद्र कहलाते हैं सम्भव है कि जव पृथ्वी वाष्पावस्थामें थी तव किसी भूगर्भीय गरमीसे विष्फोटन होकर वर्त्तमान् समुद्रोंके स्थानोंका वाष्प उडकर एकत्रित होगया हो और उसका गोला वनकर चन्द्रमा कहलाने लग गया हो, सम्भव है कि इसी कारणसे चन्द्रमा समुद्रका पुत्र कहलाता है। अस्तु, जो भी हो लेकिन चन्द्रमा का जलके साथ सम्वन्ध ज्वार भाटेके समय प्रत्यक्ष देखा जाता है। चन्द्रमाके अमृत मय होनेका भी अनुभव औषधियोंमें विशेप रस पैदा करनेके समय अवश्य होता है चन्द्रमाकी रश्मियोंके द्वारा औषधियों पर सूक्ष्म रूपसे ऐसा अमृत वरसता है कि जिससे उनमें वड़ी भारी पुष्टता आती है। सभी वस्तुओंका द्रव रूप जल है और इसका सार ही अमृत है अमृत शब्दका अर्थ है मरण धर्म रहित, अर्थात् जिससे किसी पदार्थके जीवनकी वृद्धि हो उसीको अमृत कहते हैं, इसलिये संसारके सभी पदार्थोंका कार्य रूप मरण शील और अनित्य है तथा कारण रूप नित्य और अमृत है।

इसीलिये संसारके सभी पदार्थ जव कार्य रूपसे कारण रूपमे परिणत होते हैं तव सवसे प्रथम वे द्रव (जल) रूपमें परिणत होते हैं और वादमें वाष्प रूपमे होकर उड जाते हैं तथा अलक्षित होजाते

हैं यही अमृत (सूक्ष्म) और स्थूलका भेद है।

इसी प्रकार किसी भी मनुष्यके निमित्त दी हुई वस्तु सूक्ष्म रूपसे चन्द्र लोकमें यदि चली जाती है तो इसमे क्या आशंका है क्योंकि चन्द्रमा अमृत मय है और वस्तुओंका सार भी अमृत है तथा अमृतका अमृत सजातीय भी होता है इसलिये श्राद्धादिकके समय पितरोंके निमित्त दी हुई वस्तुओंके सार रूप अमृतका चन्द्रमा रूपी अमृतके पास जाना ठीक ही है। इसलिए पुत्रादिकके द्वारा दी हुई वस्तुओंका सार चन्द्रलोक में अवश्य जाता है और तद्रात् सजातीय पितरोंको अवश्य मिलता है।

पूर्वोक्त प्रमाणोसे यह बात सिद्ध होगई है कि चन्द्रमा अमृतरूप है।

ऋग्वेदमे सूर्यको अग्निको और पृथ्वीको भी अमृत लिखा है। यहां पर शास्त्रकारोंने यह व्यवस्था की है कि सूर्य और अग्नि तो सात्विक अमृत है, और चन्द्रमा राजसिक अमृत है तथा पृथ्वी तामसिक अमृत है। सात्विक अमृत हलका होता है और राजसिक अमृत न हलका न भारी होता है तथा तामसिक अमृत सबसे भारी होता है।

कारण यह है कि सत्व गुण हलका और प्रकाश रूप होता है तथा रजोगुण न हलका और न भारी तथा चल होता है और तमोगुण भारी तथा अचल होता है।

(सा० का० १३)

ज्ञान सत्व गुण प्रधान है, और ज्ञान रहित कर्म रजोगुण प्रधान है तथा अज्ञान और अकर्म तमोगुण प्रधान है।

अत मत्व गुण प्रधान साकारोपासक ज्ञानियोका प्रकाश रूप होनेके कारण, प्रकाशमय देवयान मार्गसे सूर्य लोकमे होते हुये ब्रह्मलोक मे जाना और रजोगुण प्रधान ज्ञान रहित कर्मियोंका अन्धकार युक्त पितृयान मार्गसे चन्द्रलोकमे जाना तथा तमोगुण प्रधान ज्ञान और कर्मसे रहित तमोगुणियोंका कहीं भी नहीं जाना (इस भूलोकमें ही रहना) युक्ति युक्त हो है। इसोलिये गीतामें भो लिखा है कि—

"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः
जघन्य गुण वृतिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः"।

अर्थात् सत्व गुणो ऊपरकी ओर ब्रह्म लोकमे चले जाते है और रजोगुणी मध्यके चन्द्रलोकमे स्थित रहते हैं तथा तमोगुणी आकाश लोक तक ही जाकर नीचे गिर जाते है। ब्रह्मलोक सबसे ऊंचा है और चन्द्रलोक मध्यमें है तथा पृथ्वी लोक सबसे नीचा है। ज्ञान प्रकाश रूप ओर प्रकाशका सजातीय है तथा अज्ञान अन्धकार रूप ओर अन्धकारका सजातोय है। देवयान मार्ग पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तक एकदम प्रकाशमय है, और पितृयाण मार्ग पृथ्वी और चन्द्रमाकी छाया रूप होनेके कारण पृथ्वीसे लेकर चन्द्रलोक तक एकदम अन्धकार मय है, इसलिये प्रकाशात्मा ज्ञानो देवयान मार्ग सीधा होनेपर सोधे ब्रह्मलोकमे चले जाते है और सीधा न होनेपर उनको कुछ घूमकर जाना होता है। इसी प्रकार अन्धकारके सजातीय केवल कर्मी अन्धकार मय भूछाया और चन्द्र छाया रूप पितृयाण मार्ग अटूट और सीधा होनेपर उसी समय सोधे चन्द्र लोकमे चले जाते हैं। और टूटा हुआ तथा सीधा

न होनेपर उनको कुछ समयके लिये अपनी गति रोकनी पड़ती है अथवा टेढ़ा चलकर भूछायामे और चन्द्र छायामें प्रवेश कर कर चन्द्र लोकमें जाना पड़ता है यही देवयान और पितृयाण मार्गोंका सारांश है।

-देवयान और पितृयाणके मुख्य भेद-

पूर्वमें देवयान और पितृयाण मार्गोंका विस्तृत विवेचन हो चुका है लेकिन यह नहीं बतलाया गया है कि देवयानके कितने भेद हैं और पितृयाणके कितने भेद हैं ?

यद्यपि इनका मुख्य प्राप्य स्थान एक एक ही है लेकिन तो भी पृथ्वीके स्थान भेदसे इनके अनेक भेद हो जाते हैं क्योंकि भूपृष्टके स्थान भेदसे काल भेद होता है और काल भेदसे इनमे भी विविधता आ जाती है जैसे उत्तरायण कालमे देवयान मार्ग पृथ्वीसे लेकर ब्रह्मलोक तक सरल रहता है और वही दक्षिणायन कालमे टेढा हो जाता है इसलिये देवयान मार्गके मुख्यतया दो भेद हो सकते हैं। देवयान मार्ग उत्तरायणमे सीधा क्यों रहता है और दक्षिणायनमे टेढा क्यों हो जाता है ? अब इसी बातका कुछ विवेचन करते है।

ब्रह्मलोक, तथा भूलोक निवासियोंको ब्रह्मलोकमें जानेके लिये सूर्यलोकमें होकर अवश्य जाना पडता है क्योंकि ब्रह्मलोकके साम्राज्यमे अनेकानेक सूर्य अपने अपने राज्योंका शासन करते हैं इसलिये जिस भी सूर्यके राज्यमे से कोई भी कार्य होता है वह सूर्यके द्वारा ही होता है।

सूर्य ग्रहोंका राजा होता है और ग्रह उसकी प्रजा होते है
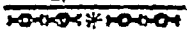
तथा उसकी परिक्रमा करते हैं और उसीके अधीन रहते हैं अतः उसकी आज्ञाके विना सौर चक्रसे वाहर ग्रहोंपरसे कोई भी काम नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि ग्रहोंको सूर्यने अपने आकर्षणके द्वारा ऐसा वाँध रखा है कि यदि इनसे कोई भी वस्तु उत्थान खाकर सौर चक्रसे वाहर जाना चाहती है तो पहिले तो उसको सूर्यके आकर्षणके द्वारा सूर्यलोकमे ही जाना होता है और वह यदि सूर्यकी सजातीय होती है तब तो सूर्य लोकमें ही ठहर जाती है अन्यथा आगेके किसी लोककी सजातीय होने पर सौर चक्रसे वाहर भी चली जाती है लेकिन भूलोकसे उत्थान खाकर सौरचक्रसे वाहर जाने में उसको सूर्यलोकमे होकर अवश्य जाना पड़ता है। आशय यह है कि ज्ञानात्मा मनुष्यका लिङ्ग शरीर इतना सूक्ष्म और इतना तेज होता है कि उसके आगे सूर्यका तेज और सूर्यकी सूक्ष्मता भी रद्द हो जाती है अर्थात् ज्ञानात्माके लिंग शरीरकी सूक्ष्म वाष्प, सूर्यकी जलती हुई वाष्पोंसे भी हलकी और तेज हो जाती है सूर्य भी उसके सामने ठण्डा और भारी मालूम होता है। यह वात पहले भी लिखी जा चुकी है कि हलकी वस्तु भारी वस्तुके ऊपर जाया करती है इसलिये यदि किसी ज्ञानी मनुष्यका लिंग शरीर सूर्यकी परिस्थितिके आपेक्षिक गुरुत्वसे हलका होता है। और आगेकी किसी वस्तु (ब्रह्मलोक) का सजातीय होता है तो अवश्यमेव भूलोकसे जाते समय सूर्यको उल्लङ्घन करके अपने सजातीय पदार्थके पास चला जाता है ज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोकके

सजातीय होते है। इसलिये वे भूलोकमे उत्थान खाकर सौर चक्रको भी उलंघन करके ब्रह्मलोकमे चले जाते है लेकिन उनको भी मार्ग तो सूर्यलोकमे होकर ही बनाना पडता है क्योंकि एक तो सूर्यका आकर्षण उन पर अपना बल लगाता है और दूसरे वे तेजके सजातीय होते हैं इसलिये पृथ्वीमे चलने पर उनको सबसे पहले सूर्यके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु उतनी तेजवान नहीं मिलती कि जिसके पास चले जांय, इसलिये भूलोकसे ब्रह्मलोकमें जाने वाले ज्ञानियोंको सूर्य लोकमे होकर ही जाना पड़ता है या यों कहिये कि हमारे इस सौर चक्रमे बाहर जाने वालोंको पास (पासपोर्ट) मिलनेको प्रधान कार्यालय सूर्य लोक ही है यहा जाकर जब वे ब्रह्मलोकमें जानेके लिये योग्य सिद्ध हो जाते है तभी वे आगे ब्रह्मलोकमें जा सकते हैं अन्यथा नहीं जा सकते। अथवा यों भी कह सकते हैं कि ब्रह्मलोकमें जानेवालों के लिए भूलोकके बादमें पहिला प्रधान जंकशन स्टेशन सूर्य लोक ही है। ब्रह्म लोकमें जाने वाली गाड़ी सूर्य लोकमें होकर ही ब्रह्मलोकमें जाती है अर्थात् ब्रह्मलोकमें जानेवालोंको सूर्य लोकमें होकर अवश्य ही जाना पडता है यही लिखनेका साराश है। वेद भी कहते हैं कि सूर्यकी रश्मियोंके द्वारा आकर्षित होकर ही मनुष्य ब्रह्मलोकमें जाते है और सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होते हैं। ऋग्वेदमें लिखा है कि

"आभरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः।

इमेनुते रश्मय. सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो
न आसन् ,,

(ऋ० १- १०९-७)

अर्थ— (वज्रबाहु इन्द्राग्नी) —मजबूत भुजा वाले इन्द्र और अग्नि, (अस्मान् आभरतं)— हमको अच्छी प्रकारसे धारण करें और हमारा पोषण करें, (शिक्षतं)–हमको शिक्षा दें (शचीभिः अवतं) शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें, (नु)— निश्चय ही, (सूर्यस्य इमे-ते रश्मयः)— सूर्यकी ये वे किरणें हैं, (ये भिः)— जिनसे, (नः पितरः)— हमारे पितर, (सपित्वं आसन)— सह प्राप्तव्य स्थान (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होते हैं अर्थात् जिन सूर्यकी रश्मियोंके द्वारा हमारे पितर ब्रह्मलोकमे पहुंचाये जाते हैं, ये वे सूर्यकी रश्मि है। इस वैदिक विज्ञान (साइंस) के अनुसार भी मनुष्य सूर्यकी आकर्षण शक्तिसे अथवा सूर्यकी आपेक्षिक गुरुत्व शक्तिसे जानात्मा का लिंग शरीर लघु (हलका) होनेके कारण सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मलोकमे चला जाता है।

— सरल देवयान —

पूर्वमें इस बातका निर्णय हो चुका है कि देवयान मार्गसे ब्रह्मलोकमे जाने वाले प्राणियोंका सूर्यलोकमें होकर जाना अनिवार्य है और यह भी बतला दिया गया है कि भूलोकसे ब्रह्मलोक उत्तरमें है। उत्तरायण कालमे सूर्यलोक भूलोकसे उत्तरमे रहता है इसलिए भूलोकसे ब्रह्मलोकमें जानेवालों केलिए सूर्यलोक, भूलोक और ब्रह्म-लोकके बीचमें पड़ता है, अर्थात् भूलोक, सूर्यलोक और ब्रह्मलोक

ये तीनों एक सरल रेखामें पड़जाते हैं चित्र (नं०-१) में देखनेसे यह बात ठीक समझमें आ सकती है। यहा चित्र (नं०-१)में ब्रह्मताग ब्र ोक है; सूर्य= सूर्यलोक है, पृ= पृथ्वी लोक है, चं= चन्द्रलोक । र पृथ्वीके "क च" चिन्होंसे लेकर "क ख ग" और "चछ ज" इन दो रेखाओंके बीचों बीच होता हुआ तथा सूर्यलोकको भी स्पर्श करता हुआ जो (मार्ग) ब्रह्मतारात्मक ब्रह्मलोकको चला जाता है यही प्रकाशमय सरल देवयान मार्ग है इसीको देवयान कहते हैं और इसीको ब्रह्मपथ कहते हैं। यह मार्ग भूलोकसे ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सीधा है इसमें कहीं पर भी कुटिलता नहीं दिखाई देती इसलिये उत्तरायणमें मरनेवाले ज्ञानात्मा प्राणी इसी सरल देवयान मार्गसे सीधे ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं, उनको गतीमें न तो कोई प्रकारका अवरोध ही होता है और न उनको इधर उधर कहीं भटकना ही पड़ता है अर्थात् ब्रह्मलोकमें जानेके लिए उनका सीधा मार्ग है तथा चित्र (नं० १) में जो पृथ्वीके अर्धभागके "क" और "च" चिन्होंसे लेकर "क र य" और "च प य" रेखाओंके बीचोंबीच जो "य" चिन्ह पर्यन्त अन्धकारमय काला काला मार्गसा दिखाया गया है यह पितृयाण मार्गका एक भाग है इसमें जो कृष्णता दिखाई गई है वह पृथ्वीकी छाया है, और पृथ्वीकी छायाका नाम ही रात्रि है, पितृयाण मार्गसे चन्द्रग्रहणके समय इसी कृष्ण मार्गको चन्द्रलोकमें जानेके लिये अपना मार्ग बनाते हैं अन्य समयमें चन्द्र छायाकी सहायता लेनी पड़ती है इस विषयका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा।

सरलदेवयान नं० १
क्रान्ति
वृत्त
सूर्य
ब्रह्म तारा
ब्रह्मलोक
ग
ख
क
च
छ
ज
प
य
उ
ए
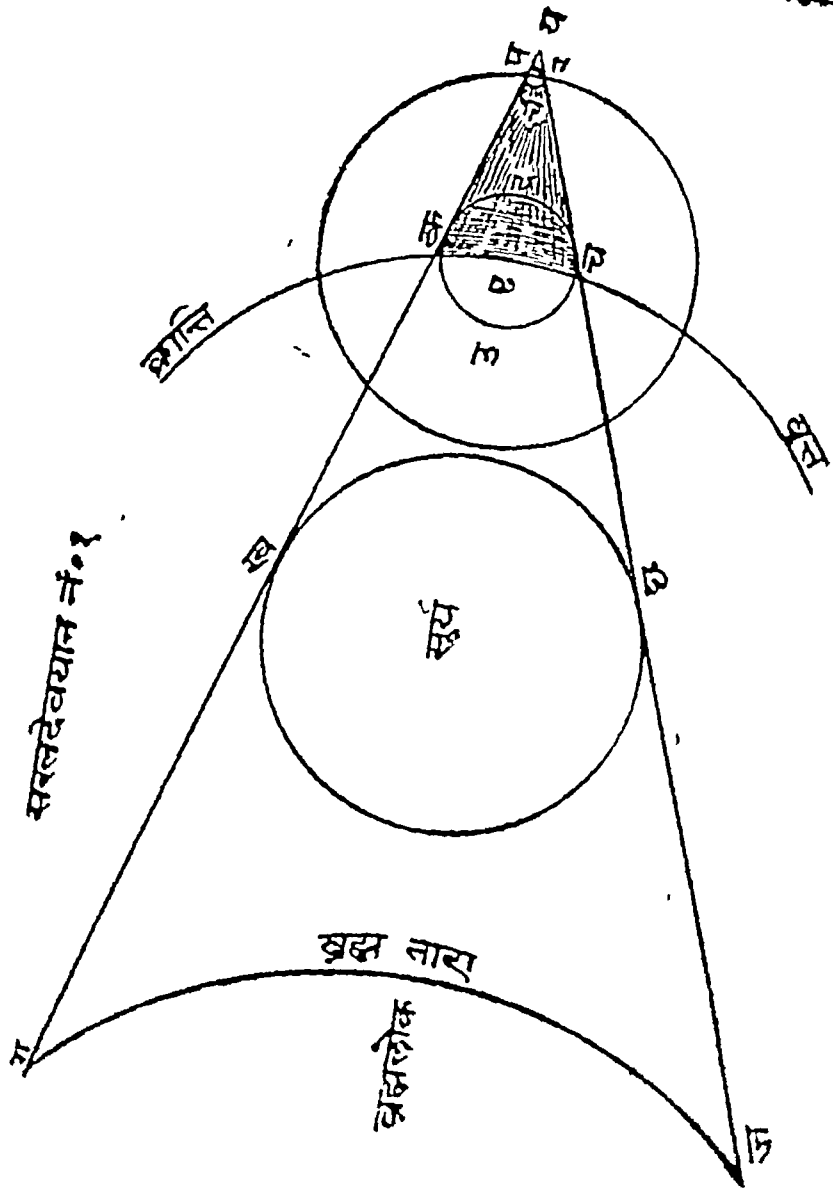
—तिर्यक् (टेढ़ा) देवयान—

पूर्वमें यह बतला दिया गया है कि उत्तरायणमें देवयान मार्ग, भूमि से लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सीधा रहता है लेकिन यह नहीं बतलाया गया कि दक्षिणायन में उसकी कैसी स्थिति रहती है ? इसलिए यहां इसीका विचार करना है कि दक्षिणायन में देवयान मार्ग की कैसी परिस्थिति हो जाती है ?

चित्र (नं० १) में देवयान मार्गकी जो सीधी रेखा है वे ही चित्र नं० २ में टेढ़ी हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्मलोक पृथ्वीसे उत्तरमे है और दक्षिणायनमे सूर्यलोक पृथ्वीलोकसे दक्षिणमें रहता है जो चित्र नं० २ में दिखाया गया है। तथा एक यह बात भी है कि भू लोकसे ब्रह्मलोकमें जानेवालों को, सूर्य्यलोकमें होकर अवश्य जाना पड़ता है।

अब देखना चाहिए कि जब भूलोक से ब्रह्मलोक उत्तरमें है। और ब्रह्मलोकमें जाने वालोंको सूर्य लोकमें होकर अवश्य जाना पड़ता है तबतो सूर्यके दक्षिणायन होनेके कारण चित्र नं० १ को "क ख ग" और "च छ ज" रेखा जो भूलोकसे ब्रह्मलोक तक एक दम सीधो जाती थी वे ही चित्र नं० २ में "क ख ग" और "च छ ज" की तरह टेढी हो जाती हैं अर्थात् उत्तरायण कालमें जो सीधा मार्ग है वही दक्षिणायन में टेढ़ा हो जाता है। उत्तरायणमें तो सूर्य, पृथ्वी से उत्तरकी ओर होनेके कारण ब्रह्मलोकके मार्गमें ही पड़ता है लेकिन दक्षिणायनमें सूर्य तो पृथ्वीसे दक्षिणमें चला जाता है और ब्रह्मलोक पृथ्वीसे उत्तरमें रह जाता है अतः दक्षिणायनमे मरने वाले ज्ञानात्मा-ओंको पहिले तो पृथ्वीसे दक्षिणमें स्थित सूर्य लोकमे "क ख" और

(तिर्यक्देव यान नं २)
ज
छ
क्रान्ति
वृत्त
चंद्रकक्षा
चं
क
सूर्य
द
पृ
उ
च
प
र
य
ब्रह्मतारा
ब्रह्मलोक
ख
ग
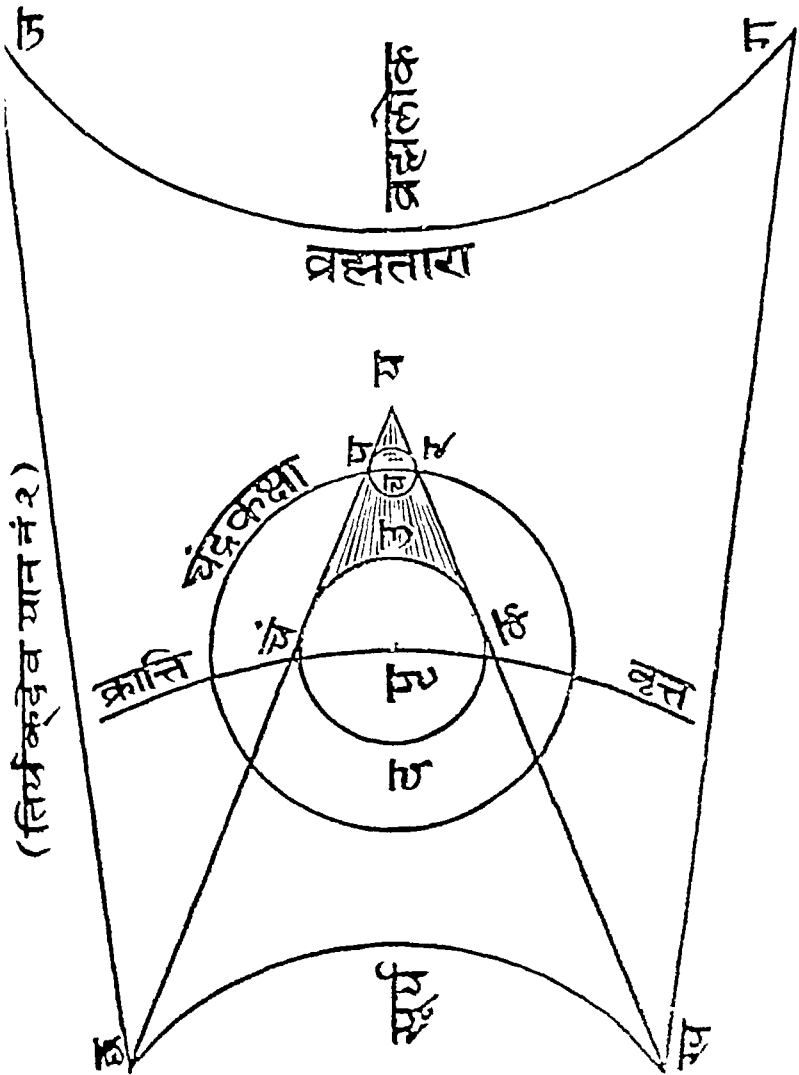
"च छ" रेखाओंके बीचो बीच होते हुए जाना पडता है और बाद में सूर्य लोकसे ब्रह्मलोकमें "ख ग" और "छ ज" रेखाओंके बीचों-बीच होते हुए उलटा ब्रह्मलोककी तरफ आना पडता है अर्थात् दक्षिणायनमें पहिले भूलोकसे दक्षिणमें जाकर फिर उलटा उत्तरमें आना पड़ता है इसलिए यह मार्ग एक प्रकारसे टेढा हो जाता है इसलिये देवयान मार्गसे जानेवालोंके लिए दक्षिणायन कालकी अपेक्षा उत्तरायण काल प्रशस्त माना गया है। दक्षिणायनसे उत्तरायन को प्रशस्त माननेमें देवयानका सरल होना ही हेतु है क्योंकि उत्तरायणमें मरनेवाला ज्ञानात्मा भूलोकसे ब्रह्मलोकमें सीधा चला जाता है और दक्षिणायनमें मरने वाले को टेढ़ा मार्ग काटना पड़ता है। इसीलिए भीष्मजीने मरणासन्न होने पर भी उत्तरायणकी प्रतीक्षा की है।

दक्षिणायनमें मरने वाले ज्ञानात्माओंके लिए भू पृष्ठके स्थान विशेषोंमें अन्य भी कई प्रकारकी बाधा उपस्थित होती है लेकिन उनका दिगदर्शन जहां तहां आगे कराया जायेगा।

उक्त प्रकारसे देवयान मार्गके मुख्यतया दो भेद हो जाते हैं इस बातको वेदभी बतलाता है—

"तिस्रोद्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् आणिं न रथ्य ममृता ऽधितस्थु रिह ब्रवीतु य उतच्चिकेतत"

(ऋ-१-३५-६)

अर्थ—(तिस्रोद्यावः)= तीन प्रकारकी द्यु (प्रकाशमान मार्ग) हैं जिनमें से (द्वा)= दोतो (सवितुः)—सूर्यके (उपस्थां)—समीपमें जाने वाले हैं और (एका)—एक मार्ग (यमस्य भुवने) यमके लोकमें जाने वाला है तथा (विराषाट)–जिस यमलोकमें वीर लोग जाते हैं उस लोकको ये मार्ग नहीं छोड़ते जैसे (रथ्यं

आर्णिन) रथके चक्र, अणोकी नोकपर लगी हुई कील को नहीं छोड़ते और उसीके आश्रित रहते हैं इसी प्रकार (अमृता) ये अमृत मय देवमार्ग और पितृमार्ग भी अपने अपने लोकोंके (अधितस्थुः) आश्रित रहते हैं अर्थात् अपने अपने लोकोंमें गये हुए हैं अत [यः] जो मनुष्य [तत्] इस उपरोक्त तत्वको (चिकेतत्) भली प्रकारसे जानता हो, वह [इह] यहांपर [ब्रवीतु] उस तत्वका विवेचन करे।

कई एक भाष्य कारोंने "तिस्रोद्याव." का अर्थ तीन द्युलोक हैं, ऐसा किया है लेकिन ऐसा अर्थ करनेसे आगेके "सवितुर्द्वा" तथा "एकायमस्य भुवने" का कोई अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि उपनिषदों मे अथवा अन्य शास्त्रों में सूर्यके समीप दो प्रकारके द्युलोक कहीं भी नहीं बतलाये गये, उनमे तो सूर्यसे आगे चलकर अन्तमे केवल ब्रह्मलोक ही बतलाया गया है, तथा इसी प्रकार यमके भुवन (चन्द्रलोक)में रहने वाली एक द्यु क्या हो सकती है ? इस-लिए यह भी चन्द्रलोकके मार्गका ही वर्णन है, अत· मन्त्रका यही अर्थ हो सकता है कि ब्रह्मलोकमे जानेवालेके लिए, उत्तरा-यण और दक्षिणायण भेदसे दो प्रकारकी द्यु (प्रकाश मान आका-शीय मार्ग) है, जो सूर्यके पाससे होकर जाती है और चन्द्रलोकमे जानेवालोंके लिए केवल एक ही प्रकारकी द्यु है जो भूछाया और चन्द्र छायासे बनती है।

मन्त्रके उत्तरार्धमे कहा गया है कि ये द्यु अपने अपने लोकों में इस प्रकारसे आश्रित रहती है जैसे रथका चक्र अपनी धुरीकी नोक पर लगी हुई कीलके आश्रित रहता है। यहां चक्रके दृष्टान्तका यह अभिप्राय है कि ये देवयान और पितृयान मार्ग भी ऐसे है कि इनमें

"च छ" रेखाओंके वीचो वीच होते हुए जाना पडता है और वाद में सूर्य लोकसे ब्रह्मलोकमें "ख ग" और "छ ज" रेखाओंके वीचों-वीच होते हुए उल्टा ब्रह्मलोककी तरफ आना पड़ता है अर्थात् दक्षिणायनमें पहिले भूलोकसे दक्षिणमें जाकर फिर उल्टा उत्तरमें आना पड़ता है इसलिए यह मार्ग एक प्रकारसे टेढा हो जाता है इसलिये देवयान मार्गसे जानेवालोंके लिए दक्षिणायन कालकी अपेक्षा उत्तरायण काल प्रशस्त माना गया है। दक्षिणायनसे उत्तरायन को प्रशस्त माननेमें देवयानका सरल होना ही हेतु है क्योंकि उत्तरायणमें मरनेवाला ज्ञानात्मा भूलोकसे ब्रह्मलोकमें सीधा चला जाता हैं और दक्षिणायनमें मरने वाले को टेढ़ा मार्ग काटना पड़ता है। इसीलिए भीष्मजीने मरणासन्न होने पर भी उत्तरायणकी प्रतीक्षा की है।

दक्षिणायनमें मरने वाले ज्ञानात्माओंके लिए भू पृष्ठके स्थान विशेषोंमें अन्य भी कई प्रकारकी वाधा उपस्थित होती है लेकिन उनका दिगदर्शन जहां तहां आगे कराया जायेगा।

उक्त प्रकारसे देवयान मार्गके मुख्यतया दो भेद हो जाते हैं इस बातको वेदभी वतलाता है—

"तिस्रोद्याव: सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट्, आणिं न रथ्य ममृता ऽ धितस्थु रिह ब्रवीतु य उतच्चिकेतत"

(ऋ-१-३५-६)

अर्थ—(तिस्रोद्यावः)= तीन प्रकारकी द्यु (प्रकाशमान मार्ग) हैं जिनमें से (द्वा)= दोतो (सवितुः)—सूर्यके (उपस्था)—समीपमें जाने वाले हैं और (एका)—एक मार्ग (यमस्य भुवने) यमके लोकमें जाने वाला है तथा (विराषाट)–जिस यमलोकमें वीर लोग जाते हैं उस लोकको ये मार्ग नही छोडते जैसे (रथ्यं

आर्णिन) रथके चक्र, अणोकी नोकपर लगी हुई कोल को नहीं छोडते और उसीके आश्रित रहते हैं इसी प्रकार (अमृता) ये अमृत मय देवमार्ग और पितृमार्ग भी अपने अपने लोकोंके (अधितस्थुः) आश्रित रहते हैं अर्थात् अपने अपने लोकोमें गये हुए है अतः [यः] जो मनुष्य [तत्] इस उपरोक्त तत्वको (चिकेतत्) भली प्रकारसे जानता हो, वह [इह] यहाँपर [ब्रवीतु] उस तत्वका विवेचन करे।

कई एक भाष्य कारोंने "तिस्रोद्यावः" का अर्थ तीन द्यु लोक हैं, ऐसा किया है लेकिन ऐसा अर्थ करनेसे आगेके "सवितुर्द्वा" तथा "एकायमस्य भुवने" का कोई अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि उपनिषदो में अथवा अन्य शास्त्रों में सूर्यके समीप दो प्रकारके द्यु लोक कहीं भी नहीं वतलाये गये, इनमें तो सूर्यसे आगे चलकर अन्तमें केवल ब्रह्मलोक ही वतलाया गया है, तथा इसी प्रकार यमके भुवन (चन्द्रलोक)में रहने वाली एक द्यु क्या हो सकती है ? इस-लिए यह भी चन्द्रलोकके मार्गका ही वर्णन है, अतः मन्त्रका यही अर्थ हो सकता है कि ब्रह्मलोकमे जानेवालेके लिए, उत्तरा-यण और दक्षिणायण भेदसे दो प्रकारकी द्यु (प्रकाश मान आका-शीय मार्ग) हैं, जो सूर्यके पाससे होकर जाती है और चन्द्रलोकमे जानेवालोके लिए केवल एक ही प्रकारकी द्यु है जो भूछाया और चन्द्र छायासे वनती है।

मन्त्रके उत्तरार्धमे कहा गया है कि ये द्यु अपने अपने लोको के इस प्रकारसे आश्रित रहती है जैसे रथका चक्र अपनी धुरीकी नोक पर लगी हुई कीलके आश्रित रहता है। यहाँ चक्रके दृष्टान्तका यह अभिप्राय है कि ये देवयान और पितृयान मार्ग भी ऐसे है कि इनमें

भी मनुष्योंको चक्रकी तरह घूमना पडता है इसीलिए यह संसार संसार चक्र कहलाता है।

मन्त्र कहता है कि सूर्यके समीपसे जाने वाले दो मार्ग क्या है ? और यमके भुवनमें जानेवाली एक द्यु क्या है ? तथा ये अपने अपने लोकोके आश्रित कैसे रहते हैं। इस वैदिक विज्ञान (साइंस) और इस तत्वको यदि कोई जानता हो, तो हमारे सामने विवेचन करे। इस सारांशको लेकर ही "द्यु" का अर्थ हमने प्रकाशमान मार्ग किया है।

—पितृयाणके भेद—

पितृयाणके विषयमे पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है, यहांपरतो केवल इतना ही बतलाना है कि जैसे देवयान मार्गकी सरलताके लिए दिन, और उत्तरायण काल आदिकी परमावश्यकता है इसी प्रकार पितृयाण मार्गसें भी दक्षिणायन रात्रि और कृष्ण पक्ष आदिकी भी कोई न कोई आवश्यकता अवश्य होगी ? यहां इसीका निर्णय करना है।

यह बात पहिले भी कई एक स्थानोंपर लिखी जाचुकी है कि देवयान मार्ग प्रकाश रूप है और पितृयान मार्ग अन्धकार रूप है देवयान मार्गमें जानेवाले ज्ञानी और उनके कर्म प्रकाश रूप होते हैं और पितृयाण मार्गमें जानेवाले ज्ञान रहित कर्मी तथा उनके कर्म भी अन्धकार रूप होते हैं। एक यह बात भी कई एक स्थानोंमें बतलादी गई है कि पृथ्वीकी छाया ही रात्रि है और वही चन्द्रछायाको साथमे लेकर अन्धकार मय पितृयान मार्गको बनाती है। अब छान्दोग्योपनिषत (५-१०-३-) के साथ साथ भगवान्के

"धूमोरात्रि स्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्"

में जो पितृयाण मार्गका वर्णन किया है, इसमें धूमको छोडकर रात्रि कृष्ण पक्ष और दक्षिणायनके छ मास लिखे है, यहापर रात्रि क्या वस्तु है और किसके आश्रित है ? तथा कृष्ण पक्ष क्या वस्तु हैं और किसके आश्रित है। इसी प्रकार दक्षिणायन क्या वस्तु है और किसके आश्रित हैं ? तथा इनमेंसे प्रत्येकका पितृयाण मार्गमें क्या उपयोग है इत्यादि बातोंका निर्णय करना आवश्यकीय है।

उपरोक्त विषयके निर्णयके पहिले एक यह बात भी बतला देनी आवश्यक है कि जिन वैदिक महर्षियोंने इस विज्ञानका अविष्कार किया था वे भूमध्य रेखासे उत्तरके रहनेवाले थे इसलिए उनके विज्ञान का विशेष संबन्ध उत्तर गोलार्धसे ही है। विशेष वैज्ञानिक होनेके कारण उत्तर मेरू निवासी देवता कहलाते थे। वस्तुतः ज्ञानीपुरुष, देवता ही होते है अर्थात् देवता ज्ञान युक्त ही होते हैं मूर्ख नहीं होते। अब पितृयाण मार्गके वर्णनमें धूमको छोडकर पहिले रात्रिका ही नाम आता है, और भूनिवासियोंके लिए पृथ्वीकी छाया ही रात्रि है तथा यह अयन (गति) वश, उत्तर और दक्षिणकी ओर घूमती रहती है। उत्तरायण कालमे वह भूमध्य रेखासे दक्षिणकी ओर विशेष रूपमे रहती है और उत्तरकी तरफ अल्प रूपमे रहती है। इसी प्रकार वही दक्षिणायन कालमें भूमध्य रेखासे उत्तरकी तरफ विशेष रूपमे रहती है और दक्षिणमें अल्प रूपमें रहती है। फलत अयन भेदसे दोनो ध्रुव स्थानोपर छ छ महिनों तक भी रात्रि ही रात्रि रहती है। इसी प्रकार मेरू स्थानोंपर दिन भी छ छ महीनों तक ही रहता है। अब चित्र न० ३ में देखिये यह पितृयाण मार्गका चित्र दिया गया है

चन्द्रकक्षा
क्रान्ति वृत्त
सूर्य
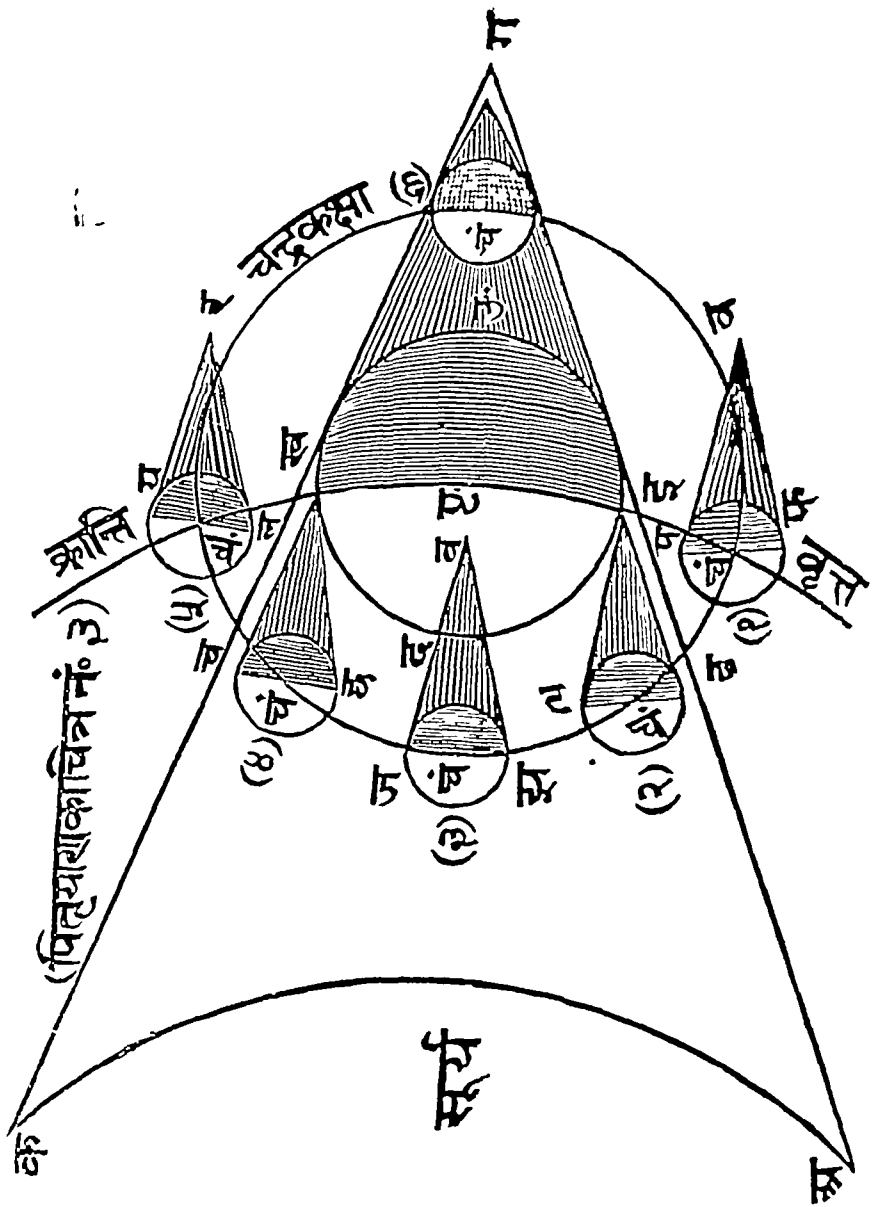
यह परम दक्षिणायन कालका द्योतक है, इसमे "अ क" चिन्हों के बीचमें सूर्यका विम्व दिखाया गया हैं जो आकाशमें सबसे बड़ा है पृ०=पृथ्वी है जो क्रान्ति वृतमें चलती हुई दिखाई गई हैं, "ख ई" भूमध्य रेखा है जिससे उत्तरकी तरफ "ग" चिन्ह पर्यन्त फैली हुई जो कृष्ण रूपमें दिखाई गई है यह पृथ्वीकी छाया है यही रात्रि है चन्द्रकक्षा नामक वृत्त =चन्द्रकक्षा है जिसमे चलकर चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है, तथा इसी वृत्तके १, २, ३, ४, ५, ६, आदि चिन्होंकी संख्याओंमे जो छोटे छोटे वृत्त दिखाये गये हैं ये चन्द्रमा हैं, इन वृत्तोंके एक तरफ जो काली काली चोटी सी दिखाई गई हैं ये अवस्था भेदसे चन्द्रमाकी छाया हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे पृथ्वीमें स्वयं प्रकाश नहीं है और सूर्य से ही प्रकाशित होती है इसी प्रकार चन्द्रमा भी स्वयं प्रकाशवान् नहीं है, किन्तु सूर्यसे ही प्रकाश पाता है। इसलिये चन्द्रमाकी भी सूर्यसे विरुद्ध दिशामे छाया पडती है और उसीके कारण इसके पृष्ठ पर भी रात्रि और दिन होते हैं।

—कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष—

चन्द्रमाका एक भाग सदैव सूर्यके सामने रहता है और वही प्रकाशित रहता है तथा सूर्यसे विरुद्ध दिशामे कृष्ण भाग रहता है और वही अप्रकाशित रहता है। चन्द्रमाके प्रकाशित भागका, पृथ्वीके सामने रहनेका नाम ही पृथ्वीका शुक्ल पक्ष है, क्योंकि इस प्रकाशित भागसे ही सूर्यकी किरणें प्रतिहत होकर भू पृष्ठ पर गिरती हैं जिससे भू पृष्ठ पर रात्रि होने पर भी वह चन्द्रमाके द्वारा प्रका-

शित हो जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमाके कृष्ण भागका भू पृष्ठके सन्मुख आनेका नाम ही कृष्ण पक्ष है, कृष्ण पक्षमें चन्द्रमाका कृष्ण भाग पृथ्वीके सामने रहता है।

शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष किन किन तिथियोंसे मानने चाहिये इस विषयमें यद्यपि अनेक भेद हैं क्योंकि कोई तो कृष्ण प्रति पदा से अमावस्या तक कृष्ण पक्ष मानते हैं और शुक्ल प्रतिपदासे पूर्णिमा तक शुक्ल पक्ष मानते हैं। तथा कोई कोई कृष्ण पञ्चमीसे शुक्ल पञ्चमी तक कृष्ण पक्ष मानते हैं और शुक्ल पञ्चमीसे कृष्ण पञ्चमी तक शुक्ल पक्ष मानते हैं। इसी प्रकार बहुतसे कृष्णाष्टमीसे शुक्ला-ष्टमी तक कृष्ण पक्ष मानते हैं और शुक्लाष्टमीसे कृष्णाष्टमी तक शुक्ल पक्ष मानते है इस प्रकार तीन भेद हो जाते है। यहा अन्य मतोंकी अपेक्षा अन्त वाला मत ही ठीक मालूम होता है क्योंकि कृष्णाष्टमीसे ही चन्द्रमाका आधेसे अधिक कृष्ण भाग भू पृष्ठके सामने रहता हैं इसलिये कृष्णाष्टमीसे ही कृष्ण पक्षका मानना अधिक युक्ति संगत है।

इसी प्रकार शुक्लाष्टमीके बाद चन्द्रमाका आधेसे अधिक प्रका-शित भाग भू पृष्ठके सन्मुख रहता है इसलिये शुक्लाष्टमीसे शुक्ल पक्ष का मानना भी एक प्रकारसे ठीक ही प्रतीत होता है। चित्र नं० ३ मे क्रान्तिवृत पर लगे हुये चन्द्रमाके जो दो वृत्त दिखलाये गये हैं इनमेसे संख्या (१) वाला चन्द्रमा कृष्णाष्टमीका दिखलाया गया है और संख्या (५) पर चन्द्रमा शुक्लाष्टमीका दिखलाया गया है, इसी प्रकार संख्या (६) पर पूर्णिमाका चन्द्रमा, संख्या (३)

पर अमावस्याका चन्द्रमा दिखलाया गया है, तथा संख्या (२) पर कृष्णा दशमी वा एकादशीका और संख्या (४) पर शुक्ल चतुर्थी या पञ्चमीका चन्द्रमा दिखलाया गया है। ये अवस्था भेदसे चन्द्रमा की सकल दिखलाई गई है।

चन्द्रमाके पूर्वोक्त इन चित्रोंसे प्रत्यक्ष मालूम होता है कि दोनों ही अष्टमियोंको चन्द्रमाका कृष्ण भाग अथवा शुक्ल भाग दोनों ही भू पृष्ठके सामने आधे आधे दिखलाई देते हैं। जब चन्द्रमा संख्या (१) से आगे ज्यों ज्यों संख्या (२) की तरफ बढ़ेगा त्यों त्यों उसका कृष्ण भाग आधेसे अधिक अधिक भू पृष्ठके सामने आता जायेगा और अन्तमें संख्या (३) पर आकर समस्त अन्धकार भाग भू पृष्ठके सामने आ जाता है और एकदम अमावस्या हो जाती है। इसी प्रकार संख्या (४) पर भी आधेसे अधिक ही कृष्ण भाग पृथ्वीके सामने रहता है और वह अधिकता संख्या (५) तक रहती है, आगे शुक्लताकी वृद्धि होने लगती है और कृष्णताका ह्रास होने लगता है, यही ह्रास क्रमशः संख्या (६) पर जाकर समाप्त हो जाता है और उस दिन एकदम पूर्णिमा हो जाती है। एक बात यह भी जानने योग्य है कि कृष्णाष्टमीको भूमिकी छाया और चन्द्रमाकी छायाका अन्तर तीन राशिका होता है, या यों कहिये कि इस दिन पृथ्वीकी छाया और चन्द्रमाकी छाया दो समानान्तर रेखाओंकी तरह समान दूरी पर रहती हैं इसके बाद चन्द्रमा ज्यों ज्यों संख्या (२] की तरफ बढ़ता है त्यों त्यों चन्द्रमाकी छाया भू पृष्ठके समीप आती जाती है। इसी क्रमसे कृष्ण पक्षकी

दशमीके बाद शुक्ल पक्षकी पञ्चमी तक तो वह अत्यन्त ही पृथ्वी के समीप चली जाती है, जिसमें अमावस्याको तो चन्द्र छायाका भू पृष्ठसे पाच अंशसे अधिक अन्तर हो ही नहीं सकना, अर्थात् एकदम ही भूमिके पास चली जाती है। जैसे चित्र नं० (३) चन्द्र संख्या (१)में "प व' और 'फ व" रेखाओंके बीचमे जो काली काली सूच्याकार दिखलाई गई हैं यह चन्द्रमाकी छाया है, और यह "ख ग"तथा "इ ग" रेखाओंके बीचमें दिखाई हुई पृथ्वीकी छाया के समानान्तर दूरी पर है।

इसके बाद जब चन्द्रमा संख्या [२] पर आता है तब वही चन्द्रमाकी छाया "ट इ" और "ढ इ" रेखाओंके बीच वाली छायाकी तरह हो जाती है, यहा चन्द्रमाकी छायाका "इ" भाग एकदम पृथ्वी के पासमे गया हुआ है। इसी प्रकार संख्या [३] पर अमावस्याकी चन्द्र छाया भू पृष्ठके विलकुल समीपमे गई हुई है, संख्या [४] पर भी पृथ्वीके पासमे ही गई हुई है, इसी क्रमसे चन्द्रमा जब संख्या [५] पर जाता है तब शुक्लाष्टमी हो जाती है और कृष्णाष्टमीकी तरह यहां पर भी चन्द्र छाया भूमिकी छायासे तीन राशिके अन्तर पर दो समानान्तर रेखाओंको तरह हो जाती है। आगे संख्या [६] की तरफ चन्द्रमाके चलने पर यद्यपि चन्द्र छाया और भू छाया पास पासमे होकर रहती है लेकिन यहा पर चन्द्र छाया भू पृष्ठकी विपरीत दिशामे होनेके कारण भू पृष्ठ निवासियोंको उसका कोई भी उपयोग नहीं होता। हा, पृथ्वी को छायाका यहां पर भी उपयोग अवश्य होता है क्योंकि यहा

पर यदि पृथ्वीकी छाया न होती तो हम चन्द्रग्रहणके दर्शन कभी नहीं कर सकते थे। चन्द्रग्रहणके समय केवल पृथ्वीकी छायाही पितृयाण मार्ग बनाती है और उस समयमे किये हुए होम श्राद्ध आदि का सूक्ष्म परिणाम इसी मार्गसे चन्द्रलोकमे पहुचता है और हमारे पितरोंकी वहा सद्य तृप्ति करता है। इसलिए पूर्णिमा को भी भूमिकी छाया तो अवश्य काममे आती है लेकिन चन्द्रमाकी छाया उस दिन भू पृष्ठसे विपरीत दिशामे होती है अत. हमारे कोई काममे नही आती। उस दिनके चन्द्रमा का प्रकाश तो अवश्यमेव काम देता है, जिससे रात्रिमे भी देवयान मार्ग का द्वार खुल जाता है

साराश यह है कि कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष चन्द्रमाके आश्रित रहते हैं और कृष्णपक्षमे चन्द्रमा की छाया भू पृष्ठके समीप या सन्मुख रहती है और शुक्लपक्षमे वही पृथ्वीसे दूर तथा विपरीत दिशा में रहती हैं। चन्द्रमा की छाया का भूमिके समीप रहना पितृयाण के लिए उपयुक्त होता है और दूर रहना अनुपयुक्त होता है। इस प्रकार भू छाया और चन्द्र छायाका निर्णय कर कर अब पितृयाण मार्गका निर्णय करते हैं।

पितृयाण मार्गके लिए भू छाया और चन्द्र छाया, इन दोनोंकी ही आवश्यकता होती है। या यों कहिए कि भू छाया और चन्द्र छाया मिलकर ही पितृयाण मार्गको बनाती हैं।

वस्तुत पितरोंका परम प्राप्य स्थान चन्द्र लोक है, उसमे जाने के लिए अन्धकार युक्त मार्ग की आवश्यकता होती है और उसकी पूर्ति भू छाया तथा चन्द्र छायाके द्वारा होती है।

पहिले तो पृथ्वी की छाया (रात्रि) को ही लीजिए, वह शुक्लपक्ष में तो चन्द्रमाके द्वारा प्रकाशित होनेके कारण पितृयाण मार्गके उपयुक्त ही नहीं होती अतः कृष्णपक्षकी रात्रि ही पितृयाण मार्गमे उपयुक्त होती हैं। भू पृष्ठसे चन्द्र लोकमें जानेके लिए पहिले तो रात्रि रूप पृथ्वीकी छाया ही मार्ग बनाती है और आगे चलकर चन्द्रमा की छाया उसकी पूर्तिकर देती है क्योंकि कृष्णपक्षमे चन्द्रमाकी छाया पृथ्वी की छायाके आसन्न ही रहती, है जैसे चित्र तीसरेके संख्या २-३-४ में चन्द्र छायाके "ड, व, ख" अग्र भाग भू छायाके साथ मिले हुए से है, या भू छायाके आसन्न हैं, अत. भूमिके "ड, व, ख" स्थानों से चन्द्र लोकमे जानेवाला प्राणी, पहिलेतो भू छाया में चलता है और आगे चन्द्र छायामें प्रवेश कर कर वह निर्विघ्नता पूर्वक चन्द्र लोकमें चला जाता है, अतः भूमिसे गतिका आरभ करनेके लिए तो उसको रात्रिकी आवश्यकता अवश्य होती है इसीलिए पितृयाण मार्गके वर्णन में गीतामें कहा गया है कि "धूमो रात्रि" यहा रात्रिसे पृथ्वीकी छाया का ग्रहण है। पृथ्वीकी छायासे आगेकी गति (मार्ग) चन्द्रमाकी छाया बनाती है और वह कृष्णपक्षमें ही भू पृष्ठकी ओर रहती है इसलिए कृष्ण पक्षकी भी पूर्ण आवश्यकता है, इसीलिए गीतामे लिखा है कि "तथा कृष्ण" इससे पितृयाण प्रति पादक "धूमो रात्रि स्तथा कृष्ण" इतना गीताका या उपनिषदोंका कथन तो एकदम विज्ञान सिद्ध हो जाता है, परन्तु आगे लिखा है कि "षण्मासा दक्षिणायनम्" यहां पर दक्षिणायनके महिनो की या दक्षिणायन कालकी भी उपयोगिता देखनी चाहिए।

पहिले यह बात लिखी जा चुकी है कि ऋषियोंका विज्ञान, भू मध्यरेखासे उत्तरके भागोंसे विशेष सम्बन्ध रखता है और ऋषि मुनियोंका तो मुख्य स्थान उत्तर मेरु ही है तथा मेरु पर छ, छ, महीनोंकी रात और छ छ महिनोंका हो दिन होता है, अर्थात् उत्तरायणमे दिन और दक्षिणायनमें रात्रि होती है इसलिए अन्धकारमय उस पितृमार्गसे जाने वालोंके लिए उत्तर मेरु पर बडी बड़ी कठिनाई पडती है, क्योंकि उत्तरायणमें तो वहा दिन ही दिन रहता है इसलिए इस कालमें तो उनकी गति का प्रारंभ ही नही हो सकता अतः जब दक्षिणायन होता है तभी उनकी गति का आरम्भ होता है, अन्यथा वहाकी आत्मा भू पृष्ठके समीप ही भटकती फिरती है। जब दक्षिणायन होता है तब रात्रि होती है, जब रात्रि होती है तभी उनकी गतिका आरंभ होता है इसीलिए गीताका "षण् मासा दक्षिणायनम्" यह वाक्य भी एकदम विज्ञान सिद्ध हो जाता है और इसका उपयोगिता भी एकदम समझ में आजाती है। इसी प्रकार मेरु स्थान पर शुक्लपक्ष भी पन्द्रह दिनके बराबर होता है और यह भी पितृयाण से जाने वालोका बाधक है इसलिए यहापर भी कृष्णपक्षकी परमावश्यकता है।

उत्तर मेरु पर यदि कोई केवल कर्मी शुक्लपक्षमें मरता है तो उस बेचारेके लिंग शरीरको शुक्लपक्षकी समाप्ति तक तो वहा ही भटकना पडता है, बादमें जब कृष्णपक्ष आता है तब उसकी गतिका आरंभ होता है। इसी प्रकार जब छ मास तक दिनही दिन रहता है तब यदि कोई कर्मी दिनमें मरता है तो उसके लिंग शरीर को उत्तरायण की समाप्ति तक वहीं रहते हुए दक्षिणायन की प्रतीक्षा करनी पडती है

अत. पितृयाण मार्गसे चन्द्रलोकमें जानेके लिए उत्तर मेरु पर दक्षि-णायनकी भी वहुतही आवश्यकता है।

साराश यह है कि सीध चन्द्रलोक में जाने वालोंके लिए रात्रि कृष्णपक्ष और दक्षिणायन कालकी परमावश्यकता होती है इस प्रकार होनेसे पितृयाण मार्ग एकदम सीधा होता है और उस समय उस मार्गसे जानेवाले पितर तुरन्त ही चन्द्रलोकमे पहुंच जाते हैं अन्यथा उनको चन्द्रलोक तक पहुचनेमे अनेक प्रकारकी वाधाये झेलनी पड़ती हैं इसी लिये पितृयाण गामियोका दक्षिणायन, कृष्णपक्ष और रात्रिमे मरना प्रशस्त माना गया है। इससे यह सिद्ध होगया है कि भूमिकी छाया और चन्द्रमाकी छाया, ये दोनो मिलकर ही पितृयाण मार्गको वनाती हैं, यही पितृयाण मार्गका वैज्ञानिक रहस्य है और यही कर्मियोके जानेका मार्ग है।

उपसंहार

पूर्वमें इसबात का भली प्रकारसे निर्णय हो चुका है कि ब्रह्म लोक क्या है? और चन्द्र लोक क्या है? तथा देवयान क्या है? और पितृयाण क्या है? और यह भी वतला दिया गया है कि किस परिस्थितिका मनुष्य तो देवयानके द्वारा ब्रह्मलोक में जानेके योग्य होता है और किस परिस्थिति का मनुष्य पितृयाणके द्वारा चन्द्रलोक में जानेके योग्य होता है अव भिन्न भिन्न प्रकरणों में लिखी हुई वातोंका संग्रह करके यहा लिखा जाता हैं जिससे विषयको समझनेमें अति सरलता रहेगी। ब्रह्मोपासकोंमें दो भेद होते हैं, एक तो निराकार ब्रह्मके उपासक और दूसरे साकार ब्रह्मके उपसक। निराका ब्रह्म

के उपासक तो कर्मोंका परित्याग करके, कहीं एकान्त वास करते हुए अपने ज्ञान बलके द्वारा यहां ही ब्रह्ममे लीन होजाते है, इनको किसी भी लोकान्तरमे जानेकी आवश्यकता नहीं होती, इनकी मुक्तिके विषयमें तो श्रुतियाँ कहती हं कि—

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"

"अत्रैव समलीयन्ते"

"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"

अर्थात् उस निराकारोपासकके प्राण कहीं भी उत्क्रमणको प्राप्त नहीं होते, यहां हो व्यापक ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं, वह निराकारोपासक ब्रह्म रूप होया हुवा ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाता है इस प्रकार निराकारोपासकके विषयमे श्रुतियोंका कथन है।

यह निराकार ब्रह्म एक प्रकारकासूक्ष्म तत्व है कि जो सब जगह फैला हुवा है, जिससे प्रारंभमे भी साकार ब्रह्म आदि सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् इस निराकार ब्रह्म नामक तत्वसे सूक्ष्म अन्य कोई भी तत्व नहीं है अत इसी तत्वमें मिलनेके उद्देश्यसे जो त्यागी और ज्ञानात्मा पुरुष, इसीकी उपासना करते हैं उनके भाव इसी तत्वके सजातीय हो जाते हैं अतः उनका लिंग शरीर इसी तत्व में जा मिलता है, या यों कहिएकि इसके लिंग शरीरके परमाणु इतने सूक्ष्म हो जाते है जो इस ब्रह्मनामक तत्वके सजातीय होते हैं इसी कारणसे निराकारोपासक इसी तत्वमे जा मिलते हैं और इनको किसी भी मार्गके द्वारा किसी लोकान्तरमे जानेकी आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकारकीमुक्तिको अध्यात्म शास्त्रोंमे 'सद्योमुक्ति

कहते हैं, यह सर्व श्रेष्ठ मुक्ति मानी जाती है। निराकारोपासककी आत्मा या उसका लिंग शरीर निराकार भावोंसे युक्त हो कर निराकार ही हो जाता है इसलिए निराकारके साथ निराकारका मिलना सब तरहसे युक्ति युक्त है।

साकार ब्रह्मके उपासकोंके विषयमें विशेष विचार यह करना है कि साकार ब्रह्म क्या है ? किसको साकार ब्रह्म कहते है। स बात का पूर्वमे भो अच्छी प्रकारसे निर्णय कर दिया गया है कि जिससे इस प्रकारका प्रश्न उठानेकी आवश्यकता ही नहीं पड़तीकि साकार ब्रह्म क्या है। क्योंकि जिसको हम निराकार ब्रह्म नामक तत्व कहते हैं वही अपनी संकर्षण नामक शक्तिके द्वारा प्राकृतिक सूक्ष्म परिमाणुओंको एकत्रित करके जब उनमें घनी भाव (ठोसता) उत्पन्न करता है तब क्रमसे साकार ब्रह्म नामक ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है, यह ब्रह्म एक प्रकारका लोक विशेष या पिण्ड विशेष होता है जिसका वर्णन पहिले हो चुका है। यह ब्रह्मलोक अग्नि मय होता है जिसका प्रकाश और तेज भी करोडों सूर्योंके समान होता है, जिसके अग्निमय परमाणुओंकी सूक्ष्मता और उनका तेज सूर्यके अग्निमय परमाणुओंकी सूक्ष्मता और उनके तेजसे करोडों गुणा अधिक होता है। इस प्रकारके साकार ब्रह्मकी भी बारीकताकी कल्पना मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है। लेकिन इसके जो उपासक होते है वे तो समय पाकर इस तत्वको जान ही लेते है।

निराकार ब्रह्मके उपासक कर्मोंके त्यागको प्रधान मानते है परन्तु साकार ब्रह्मके उपासकोंमें उनसे इतना भेद जरूर रहता है कि वे कर्मों

-र्की आशक्तिके त्यागको तो जरूर मानते हैं लेकिन लोक संग्रहार्थ कर्मों को तो करना ही अच्छा मानते हैं, इनका कहना है कि कर्मोंमें अनाशक्त होना हीअसली त्याग है ज्ञानकी तो दोनों (निराकारोपासक साकारोपासक) को ही आवश्यकता है। निराकारोपासक संसारकी कोई विशेष भलाई नहीं कर सकता लेकिन साकारोपासक संसारका बहुत कुछ उपकार कर सकता है, वह संसारको शिक्षा देकर उसको सन्मार्गपर चलाता है और उसको मुक्तिके योग्य बनानेका प्रयत्न करता है, अन्तमें बहुतसे मनुष्योंको कर्त्तव्य शील और मुक्ति शील बना ही देता है, साकारोपासकघरोंमें वा गृहस्थमें रहकर भी सब कुछ करनेके योग्य रहता है इसको घर छोड़कर वनोंमें जानेकी आवश्य-श्यकता नहीं रहती, साकार ब्रह्मकी उपासना करते करते यह भी बड़े भारी तेजस्वी हो जाते हैं सूर्यका तेज भी इनके सामने फीका पड़ जाता है।

बहुतसे महात्मा तो ऐसे हो जाते हैं कि जो ज्येष्ठ मासके तपते हुए सूर्यके सामने खड़े होकर कहते हैं कि अब सूर्य तुम्हारे तेजको हटाओ यहां तुम्हारा तेज कोई कामका नहीं, इस बातके कहते ही उन महात्माओंसे सूर्यकी किरणें हट जाती हैं और उनके सामने काली पड़ जाती है अर्थात् उनके तेजके सामने सूर्यकी किरणें भी छायासी दिखाई देने लगती हैं। कारण यह होता है कि उनमें ब्रह्मके तेजकी समानता रहती है और ब्रह्मका तेज सूर्यके तेजसे अनन्त गुणा अधिक होता है इसलिये ज्ञानी पुरुषोंके लिंग शरीर ब्रह्मके समान तेजस्वी और उसके सजातीय हो ये हुये ब्रह्मलोकके मार्गसे

ब्रह्मलोकमें ही जाते हैं तथा वहांपर रहकर और भी ब्रह्मकी उपासना करके ब्रह्माके साथ ही आत्यन्तिक मुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं यह पहिले ही बतला दिया गया है कि ज्ञानको अग्नि स्वरूप या तेज स्वरूप माना गया है जैसे शास्त्रकार कहते हैं कि "ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माण" "ज्ञानाग्निस्तस्य कर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुनः" यहां पर ज्ञानको अग्निकी उपमा दी गई है, ज्ञानी सात्विक गुण प्रधान होता है और सत्व गुण सबसे लघु तथा प्रकाश रूप होता है इसलिये ज्ञानीका लिंग शरीर भी प्रकाश रूप और सबसे लघु (हलका) होता है। प्रकाश रूप होनेसे प्रकाशका सजातीय होता है इसलिये प्रकाशमें ही चलता है यह अन्धकारमें नहीं चलता क्योंकि अन्धकार का सजातीय नहीं है। इनके किये हुये कर्म अथवा इनके निमित्त किये हुये कर्म भी प्रकाश रूप एवं अग्नि स्वरूप वा इनके ही सजातीय होते हैं अर्थात् इनके कर्मादिक भी ब्रह्मलोकके ही सजातीय होते है इसलिये जिस मार्गसे ये ब्रह्मलोकमे जाते हैं उसी मार्गसे इनके कर्मभी ब्रह्मलोकमेंचले जाते है इसप्रकार सगुण ब्रह्मके उपासकोंकी भी सामर्थ्य और शक्ति बतलाई जाती है जो सूर्यकी तेज शक्तिका भी अतिक्रमण करके ब्रह्मशक्ति की सजातीय होती है अर्थात् यह भी सर्व शक्तिमान होते हैं, ये मृत्युको भी जीत लेते हैं और अपनी इच्छासे ही मरते है, ये भीष्मजीकी तरह मरण शैय्या पर पड़े हुये भी रात्रिमे, कृष्ण पक्षमें एवं दक्षिणायनमें न मर कर, दिनमें शुक्ल पक्षमें और उत्तरायण कालमें ही अपने शरीरका परित्याग करते हैं जिससे सीधे ब्रह्मलोकमें

चले जाते हैं। इनको ब्रह्मलोकके मार्गमें कोई प्रकारका विघ्न नहीं होता, क्योंकि ये ज्ञानमें परिपक्व होते हैं और इन मार्गोंके रहस्य को भली प्रकारसे जानते रहते हैं।

बहुतसे इस प्रकारके भी ब्रह्मलोकमे जानेके अधिकारी होते हैं जो ज्ञानी तो कम होते हैं लेकिन ब्रह्मलोकमें पहुंचाने वाले कर्मों को करते हैं, जैसे पञ्चाग्नि विद्याकी उपासना आदि, इस उपासना से उपनिषदोंमें ब्रह्मलोककी प्राप्ति लिखी है लेकिन ज्ञानके बिना जो केवल इस विद्याके बलसे ही ब्रह्मलोकमें जाते हैं, वे फिर भी पृथ्वी लोकमे चले आते है, लिखा है कि "आ ब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्ति नोऽर्जुनः" (गीता अ० ८-१६) अर्थात् इनके मृत्यु वशमे नहीं होती है अतएव इनका कोई नियत काल नहीं होता, जब इनके मरनेका कोई काल भी नियत नहीं होता और ये ब्रह्मलोकमे जानेके अधिका . .ी होते हैं तो इनके लिये देवमार्गमें भी कई प्रकारके विघ्न उपस्थित हो सकते हैं

आगे सूर्यके प्रकाशमें प्रवेश कर कर ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं लेकिन जब तक शुक्ल पक्ष नहीं होता है तब तक उनको वहां ही भटकना पड़ता है।

यह बात पहिले ही बतला दी गई है कि मेरु स्थान पर पन्द्रह दिनका शुक्ल पक्ष और पन्द्रह ही दिनका कृष्ण पक्ष होता है इसलिये वहां यदि कोई कृष्ण पक्षके लगते ही मर जाता है तो उसको कमसे कम पन्द्रह दिन तक तो वहीं ही ठहरना पड़ता है और बादमें भी उसको तिर्य्यक् देवयानसे ही ब्रह्मलोकमें जाना पड़ता है। यह परिस्थिति तो मेरु स्थानीयोंके लिये होती है लेकिन जहा चौबीस घण्टोंके ही रात दिन होते हैं वहां और भी विचित्रता होती है। जैसे भारतवर्षमें २४ घण्टोंका ही रात दिन होता है यहां पर यदि कोई स्वेच्छामरण शील पुरुष मरता है तो वह भीष्मजीकी तरह उत्तरायणमें और दिनमें मरता है तथा सरल देवयानसे सीधा ब्रह्मलोकमें चला जाता है लेकिन जिनके मृत्यु वशमें नहीं होती है और जो ब्रह्मलोकमें जानेके अधिकारी होते हैं वे यदि कृष्ण पक्षकी रात्रिमें मर जाते हैं तो जब तक सूर्यका उदय नहीं होता है तब तक उनको वहांही ठहरना पड़ता है जब सूर्योदय होता है तब वे ब्रह्मलोकमें जानेके लिये प्रस्थान करते हैं। कारण यह है कि मेरु स्थान पर जिस परिवर्त्तनको हमारे ३६५ दिन लगते हैं उसको भारतवर्षमें केवल २४ घण्टे ही लगते हैं इसलिये जो ब्रह्मलोकका अधिकारी शुक्ल पक्षकी रातमें या दिनमें मरता है वह उत्तरायण काल

पर तो सीधे देवयान मार्गसे और दक्षिणायन होने पर टेढ़े देव-

यान मार्गसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है लेकिन कृष्ण पक्षकी रात्रि होनेसे तो उसको रात्रि भर वहां ही ठहरना पड़ता है यही उसके लिये विघ्न है अतः मेरु स्थान पर जो पन्द्रह दिनका विघ्न होता है वही भारतवर्षमें केवल घण्टोंमें ही रह जाता है इसलिये मेरु स्थानीयोंकी अपेक्षा भारतीयोंके लिये बहुत ही सुविधा है, इसी लिये मेरु स्थानके देवताओंने भारतवर्षके गीत गाये हैं—

"गायन्ति देवा किल गीत कानि
धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे
स्वर्गापवर्गस्य च हेतु भूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्"

अर्थात् भारतवर्षमें जन्म लेनेके लिये देवता भी उत्सुक रहते हैं इसलिए भारतवर्ष इस प्रकारकी पुण्य भूमि है कि इसमें रह कर मनुष्य मुक्तिके साधनोंसे युक्त होकर सीधा ब्रह्मलोकमें जा सकता है।

सारांश

पूर्वमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि उत्तर मेरु निवासियोंके ब्रह्मलोकमें जानेके लिए, उत्तरायण कालमें तो देवयान मार्ग सीधा रहता है लेकिन दक्षिणायन कालमें वही टेढ़ा हो जाता है, इतना ही नहीं, मेरु पर कृष्ण पक्ष होने पर पन्द्रह दिन तक तो इसकी गतिका आरम्भ ही नहीं हो सकता क्योंकि कृष्ण पक्षमें चन्द्रमा उनके क्षितिजसे प्रायः नीचा ही रहता है इसलिए दक्षिणायन कालमें

और कृष्णपक्षमें मेरु निवासी पन्द्रह दिन तक तो चन्द्रमाके दर्शन ही नहीं कर सकते क्योंकि वहां शुक्लाष्टमीको ही प्रथम चन्द्रमाका उदय होता है और कृष्णाष्टमी तक निरन्तर दिखाई देता है अन्तमें अस्त होकर पन्द्रह दिन तक उनके क्षितिजसे नीचे ही परिभ्रमण करता है अर्थात् मेरु निवासी शुक्ल पक्षके पन्द्रह दिनतक तो चन्द्रमाको निरन्तर देखते हैं और कृष्ण पक्षके १५ दिनोंमें बिल्कुल ही नहीं देख सकते इसलिये वहा पर दक्षिणायनमें मरने वाले ब्रह्म-लोकके यात्रीको कमसे कम पन्द्रह दिन तक अवश्य रुकना पडता है तथा भारतादि अन्य देशोंमें जहां २४ घण्टोंके रात दिन होते हैं वहां रात्रिके समय मरने वाले साकारोपासकको जब तक चन्द्रमा दिखाई न देगा तब तक ही उसकी गतिका आरम्भ न होगा और जहा चन्द्रमा उदय हुआ और वह ब्रह्मलोकके लिये चला, इसलिये मेरु पर जो रुकावट पन्द्रह दिन तककी रहती है वह यहां (भारतमें) बहुत अल्प संख्यामें रह जाती है।

तात्पर्य यह है कि दक्षिणायन और कृष्ण पक्षमें मेरु स्थान पर तो अधिकसे अधिक पन्द्रह दिनकी रुकावट होती है और भारत आदिमें अधिकसे अधिक एक रातकी, अन्यथा भारतादि देशोंमें उनके लिये कम ही समयकी रुकावट रहती है इसी लिये भारतवर्ष पवित्र माना गया है।

उपरोक्त रुकावटको यदि हम सिद्धान्त रूपमें मान लेते हैं तो फिर

"स यावत् क्षिप्येत मन स्तावदादित्य मुप गच्छति"

(छां० ८-६-५)

इस श्रुतिकी क्या व्यवस्था होगी, अर्थात् श्रुति तो कहती है कि जब वह शरीरसे उत्क्रान्तिको प्राप्त होता है उसी समय मनकी तरह आदित्यलोकमें चला जाता है लेकिन पहले सिद्ध किया है कि मेरु स्थान पर तो पन्द्रह दिन तक भी रुकावट हो सकती है, इस बातका श्रुतिसे विरोध होता है क्योंकि एक स्थान पर तो पन्द्रह दिन तककी रुकावट बतलाना और अन्य स्थान पर मनकी तरह आदित्यलोकमें जाना बतलाना परस्परमें बिलकुल विरुद्ध पड़ता है ।

इसका समाधान इस प्रकार है कि यदि कोई ब्रह्मलोकमें जाने का अधिकारी, उत्तरायण, दिन, शुक्ल पक्ष आदि समयमें प्राण छोड़ता है वह तो श्रुति (छा० ८-६ ५] के कथनानुसार मनो वेगसे तुरन्त ही सूर्यलोकमें चला जाता है अन्यथा तुरन्त ही नहीं जा सकता और उसकी गतिमें पूर्वोक्त रुकावट अवश्य होती है ।

श्रुति [छां० ८-६-५] का तात्पर्य, देवयान मार्ग प्रतिपादक अर्चिरादि सब साधन होने पर ही शीघ्र जानेका है, अन्यथा "अर्चिषोऽहः" "अह्न आपूर्यमाण पक्षम्" आपूर्यमाण पक्षा द्यान्, षडुदङ्ङेति मासां स्तान्, (छा० ५-१०-२] इस श्रुतिका तथा—

"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥"

इस स्मृतिका तात्पर्य और मतलब कुछ भी नहीं रहता

इनकी यही व्यवस्था ठीक है कि दिन, शुक्लपक्ष, और उत्तरायण काल होनेपर तो ब्रह्मलोकके मुसाफिर सीधे और तुरन्त ही ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं, पूर्वोक्त काल न होनेपर उनको सूर्यके प्रकाशकी अथवा चन्द्रमाके प्रकाशकी प्रतीक्षा अवश्य करनी पड़ती है। यदि दक्षिणायन और उत्तरायण गतियोंमें रुकावट और शीघ्र जानेका भेद नहीं होता तो स्वच्छन्द मृत्युवाले भीष्मादिक कभी भी उत्तरायणकाल आदिकी प्रतीक्षा नहीं करते।

स्वच्छन्द मृत्युवाले और पराधीन मृत्युवाले, हर समयमें यदि सीधे ही ब्रह्मलोकमें चले जायें, तो उनमे भेद ही क्या हो सकता है, फिर तो मृत्युको जीतने आदिका भीष्मादिकमें कुछ भी श्रेष्ठत्व नहीं रहता इसलिए पूर्वोक्त मार्गोंका श्रेष्ठत्व और अश्रेष्ठत्व अवश्य ही मानना पड़ता है।

पूर्वोक्त वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि भीष्मके समान जो स्वच्छन्द मृत्युवाले होते हैं, वे तो उत्तरायण कालमे, तथा दिन और शुक्लपक्षमें ही प्राण छोड़ते हैं तथा प्रकाशात्मक सीधे देवयानसे ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं और जिनके मृत्यु तो वशमें नहीं है परन्तु पञ्चाग्नि विद्या आदिकी उपासनासे वे ब्रह्मलोकमें जानेके अधिकारी अवश्य हैं इस प्रकारके मनुष्य अपने संस्कारानुसार हर समयमें मर सकते हैं अर्थात् उनके लिए मरणकाल अनियत रहता है इसलिए वे दक्षिणायनमें मरते हैं तो उनको टेढे देवयानसे तो जाना ही पड़ता है, लेकिन कृष्णपक्ष होनेपर तथा उत्तर मेरु स्थान होनेपर तो उनको १५ दिनकी और भी बाधा उपस्थित हो जाती है, इसीलिए

ब्रह्मलोकमें जानेके अधिकारियोंमें अस्वच्छन्द मृत्युवालोंकी अपेक्षा स्वच्छन्द मृत्युवाले श्रेष्ठ माने जाते हैं, और इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें जानेवालोंके लिये दक्षिणायन कालसे उत्तरायण काल तथा कृष्णपक्षसे शुक्लपक्ष, और रात्रिसे दिन श्रेष्ठ माने जाते हैं, अर्थात् दिनादि प्रकाश मार्ग तो ब्रह्मलोकमें जानेवालोंके लिये डाकगाड़ी है जिसकी गति सब जगह अप्रतिहत होती है, और रात्रि तथा दक्षिणायन आदि पैसेञ्जर गाड़ी है वह जहां चाहे वहां रुक जाती है और जैसे लम्बी मुसाफिरीवालोंके लिए, पैसेंजर गाड़ीकी अपेक्षा डाकगाड़ी प्रशस्त होती है इसी प्रकार ब्रह्मलोककी लम्बी मुसाफिरीके लिए भी दक्षिणायन आदिकी अपेक्षा उत्तरायन आदि प्रशस्त होते हैं, क्योंकि उत्तरायण कालीन देवमार्गसे जानेवाले ब्रह्मलोकको सीधे और शीघ्र जाते है तथा दक्षिणायन कालीन देवमार्गसे जानेवाले टेढ़े और विलम्बसे जाते है, यही इन मार्गोंके श्रेष्ठत्व और अश्रेष्ठत्वमें भेद है।

वेदान्त दर्शनके चतुर्थाध्यायमें इसी बातका निर्णय करते हुए बादरायणी आचार्यने लिखा है कि सगुण ब्रह्मके उपासकोंका लिंग शरीर ब्रह्म लोकाग्निके समान प्रज्वलित अथवा तेजस्वी होकर तथा ब्रह्मकी उपासनासे क्रतुमय (ब्रह्मका सजातीय) हो जाता है और "रश्म्यनुसारी" भी हो जाता है। रश्म्यनुसारीका मतलब यह है कि रश्मियोंके अनुकूल वा सहारेसे चलनेवाला। एक बात यह भी है कि ब्रह्मवेत्ताके शरीरमें १०० से भी अधिक "सुषुम्ना" नामक ब्रह्मनाड़ी, या ज्ञानको अथवा प्रकाशको ग्रहण करनेवाली ड़ी

होती है, उन सबके साथमें लगी हुई ब्रह्मतेजकी सजातीय एक ब्रह्मनाड़ी भी होती है, इसका सम्बन्ध सूर्यकी रश्मियोंके द्वारा ब्रह्मलोकके साथ रहता है अतः ब्रह्मके उपासकका लिंग शरीर जब स्थूल शरीरको छोडता है तब सबसे पहले वह इसी ब्रह्मनाड़ीको अपना मार्ग बनाता है, अर्थात् मस्तकको भेदन करकर जिस समय वह इस नाड़ीके द्वारा बाहर निकलता है उस समय यदि सूर्यकी किरणें उसके साथ सम्बन्ध करती हों, अथवा चन्द्रमाकी किरणेंभी सम्बन्ध करती हो, तब तो वह उसी समय सूर्यलोकमें जाकर बादमे चन्द्रलोक, विद्युत लोक आदिमें जाता हुआ ब्रह्मलोकमें पहुंच जाता है, परन्तु उस समय यदि सूर्यकी अथवा चन्द्रमाकी किरणें न पडती हों, अथवा उस समय रात्रि तथा कृष्णपक्ष हो तो उसकी गतिका आरंभ नहीं होता, क्योंकि उस समय ब्रह्म नाडीका सम्बन्ध, सूर्यकी रश्मियों या चन्द्रमाकी रश्मियोंके द्वारा ब्रह्मलोकके साथ नहीं है।

यद्यपि "निशिनेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देह भावित्वा दर्शयति च"
(वे० सू० ४ २-१९)

इस वेदान्त सूत्रके कथनानुसार, अथवा इसके भाष्यकारोंके कथनानुसार रश्मियोंका सम्बन्ध, यावद्देह भावी होनेके कारण अन्धकारमें भी इनकी गति होती है, लेकिन ऐसा होनेमें "तद्य इत्थं विदु। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽह्न, अह्न आपूर्यमाणपक्ष मापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासान्" इत्यादि, श्रुतिका कोई भी मूल्य नहीं रहता, क्योंकि [illegible] कहे हुये दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणकाल, तथा

पितृमार्गकी श्रुतिमें कहे हुए रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनकाल आदि, कहिए ये वाक्य कालके अतिरिक्त किससे सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् ये वचन कालके ही प्रतिपादक हैं। वेदान्त सूत्र (वे० सू० ४-२-२१) के कथनानुसार यदि इस विषयको स्मार्त्त मानकर इसकी उपेक्षा करदें, तो यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उपरोक्त श्रुतिके अनुसार यह भो विषय श्रोत ही है।

मालूम होता है कि सूत्रकारने अपने अन्तःकरणमे इस प्रकार का विचार किया होगा कि रात्रि हो चाहे दिन, और अन्धकार हो चाहे प्रकाश, किन्तु मरनेके बाद कोई भी आत्मा ठहर तो सकती नहीं इसलिए उसी समय उसकी गतिका आरंभ होना मान लिया, अथवा "तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छती मंचा मुन्च, एव मे वैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छती मंचा मुंच। अमुष्मा दादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाड़ीषु सृप्ता., आभ्यो. नाडीभ्य. प्रतायन्ते तेऽमुष्मिनादित्ये सृप्ताः'

(छा० ८-६-२)

इस 'श्रुतिका ऐसा ही अर्थ मानकर कि रात हो चाहे दिन सूर्यकी रश्मियां तो इन ब्रह्मनाड़ियोंमें लगी ही रहती हैं, और ब्रह्म-नाड़िया भी सूर्यमें लगी रहती हैं, इस लिए किसी भी समय ब्रह्म-लोकमें जानेके लिये कोई भी बाधा नहीं हो सकती। परन्तु उक्त श्रुतिका उक्त प्रकारसे अर्थ लगाना ठीक नहीं है, श्रुतिका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे कोई महापथ एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जाता है तो वह दोनों ही ग्रामोंको जानेवाला कहलाता है और दोनों

ही ग्रामोंको जाता है, अर्थात् पहले ग्रामसे दूसरे ग्रामको और दूसरेसे पहलेको जाता है, या यों कहिये कि जैसे दोनों ग्रामोंके बीचमें स्थित रहता है, इसी प्रकार सूर्यकी रश्मियां भी सूर्यलोकसे पृथ्वीलोकको और पृथ्वीलोकसे प्रतिहत होकर सूर्यलोक को आती जाती रहती हैं, अर्थात् सूर्यके और पृथ्वीके बीचमें उन्होंने एक प्रकारका प्रकाशमय मार्गसा बना रखा है, यह मार्ग ठीक होने पर तो आदित्यसे निकलनेवाली किरणें ब्रह्मके उपासककी ब्रह्म नाड़ियोंमें विसर्जित होती है या गमन करती हैं और इन ब्रह्म नाडियोंसे जो प्रतिहत होती हैं वे सूर्यमें विसर्जित होती हैं या सूर्यमे गमन करती हैं।

खगोलके जाननेवाले भली प्रकारसे जानते है कि पृथ्वीका कोई न कोई अर्द्ध भाग हर समय सूर्यसे प्रकाशित रहता है, अर्थात् सूर्यकी रश्मियां पृथ्वीके कोई न कोई भागपर अवश्य पड़ती रहती है और वहांसे प्रतिहत होकर उल्टी भी सूर्यकी ओर लौटती हैं इसीसे सूर्यका तेज भूपृष्ठपर विशेष अनुभव होता है, अगर हम पृथ्वीसे अन्दाजन २०० मीलकी दूरीपर चले जाते है तो वहा सूर्यका तेज हमको चन्द्रमासे भी ठंडा मालूम होता है, क्योंकि भूपृष्ठपर विशेष तेजके अनुभव होनेका कारण वहा किरणोंका फैलना तथा प्रतिहत होना ही है, इस लिये श्रुति ठीक ही कहती है कि सूर्यलोक से भूलोक तक और भूलोकसे सूर्यलोक तक किरणें आती जाती रहती हैं। लेकिन इससे यह थोडा ही कह सकते है कि वे पृथ्वी के सभी भागोंपर बराबर स्थित रहती हैं जहां भूभागसे लगती हैं

वहां दिन होता है और जहां नहीं लगती वहां रात्रि होती है। कहनेका साराश यह है कि जहां दिन होता है वहांके ब्रह्मोपासकों की ब्रह्मनाडीका सम्बन्ध सूर्यके साथ जुड जाता है और रात्रि होनेपर वही संबन्ध टूट जाता है इसलिये जिस समय ब्रह्मनाडियों का संबन्ध सूर्यकी रश्मियोंके साथ जुडा हुआ रहता है उस समय यदि कोई ब्रह्मोपासक शरीर छोडता है तो उसको ब्रह्मलोकमें जानेके लिए कोई भी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय उपासककी ब्रह्मनाड़ीका सम्बन्ध सूर्यकी किरणों के द्वारा सूर्यलोक तक और आगेके लोकोंकी किरणोंके द्वारा ब्रह्म-लोक तक जुड जाता है इसलिये इस जुड़े हुये सम्बन्धके समय ब्रह्मलोकका सीधा मार्ग हो जाता है, इसी अभिप्रायको "तद्यथा महा पथ" इत्यादि श्रुति द्योतन करती है।

उपरोक्त श्रुतिका यही अर्थ लगानेसे उत्तरायण मार्ग और दक्षि-णायन मार्गकी द्योतक श्रुतिया सार्थक होती हैं, अन्यथा मार्ग प्रद-र्शक श्रुतियोंका अस्तित्व ही उड़ जाता है, क्योंकि जब यदि हरेक समयमें ही गतियोंका आरम्भ होना मान लिया जाय तो फिर काल रूपी मार्ग प्रतिपादक श्रुतियोंका मूल्य ही क्या रहता है, इसलिये मालूम होता है कि सबसे प्रथम "वादरी" आचार्यने ही, इन मार्ग प्रदर्शक श्रुतियोंका गला घोटना आरम्भ किया था, तथा इसीका अनुकरण शंकराचार्य आदि भाष्यकारोंने भी किया हैं कि जिससे यह अन्ध परम्परा अब तक भी चली आती है। किसी भी भाष्य-कारने देवयान और पितृयाणके विषयमें कुछ भी स्वतन्त्र विचार

नहीं किया, किन्तु सबने "बादरी" और शंकराचार्यका ही अनुकरण किया है।

इस विषयको समझनेके लिये निम्नलिखित उदाहरण भी एकदम उपयुक्त होता है, जैसे बिजलीके प्रवाहके लिये एक महा मशीनकी आवश्यकताके साथ साथ अन्य भी छोटी छोटी पावर प्रवाहक मशीन एवं बैटरियों तथा बत्तियों (लोटियों) की भी आवश्यकता होती है और तारोंके द्वारा एवं अन्य उपायोंके द्वारा इनका परस्परमें सम्बन्ध भी जोडनेकी आवश्यकता होती है इसी प्रकार ब्रह्मलोकसे लेकर ब्रह्मोपासकों तक भी प्रकाशके द्वारा सम्बन्ध जुड़नेकी आवश्यकता होती है। यहां ब्रह्मलोक ही महा मशीन है, और उसके पावरको भूलोक तक प्रवाहित करनेके लिये चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि ही पावर प्रवाहक छोटी छोटी मशीनें हैं, तथा ब्रह्मके उपासक ही बत्तिया (लोटिया) हैं और उनके अन्दर जो ब्रह्मनाड़ी हैं वे ही लोटियेके अन्दरके बारीक बारीक तार हैं, तथा ब्रह्मलोक आदिका प्रकाश ही विद्युत्प्रवाहक तार हैं। जब ब्रह्मलोक रूपी महामशीनसे चला हुआ प्रकाशात्मक तार विद्युतलोक चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदिके द्वारा भूलोक तक आ जाता है, अर्थात् ब्रह्मलोक का प्रकाश विद्युतलोक पर और चन्द्रलोक पर पड़ता है और चन्द्रलोकका सूर्यलोक पर और सूर्यलोकका भूलोक पर पड़ता है। अब यदि यह सम्बन्ध ब्रह्मके उपासककी ब्रह्मनाडियोंके साथमे भी हो जाता है तब तो उपासकके लिंग शरीर रूपी विद्युतका प्रवाह तुरन्त ही ब्रह्मलोकमें जा पहुंचता है, अर्थात् ब्रह्मनाडी सूर्यके

प्रकाशके साथ जुड जाती है और सूर्यका प्रकाश चन्द्रलोकके प्रकाश के साथ जुड़ जाता है तथा चन्द्रलोकका प्रकाश विद्युतलोकके साथ जुड जाता है और इसका प्रकाश ब्रह्मलोकके प्रकाशके साथ जुड कर ब्रह्मलोक तक चला जाता है इस रीतिसे ब्रह्मके उपासकसे लेकर ब्रह्मलोक तक एक प्रकारका प्रकाशमय तार सा बन जाता है यही ब्रह्मपथ या देवमार्ग कहलाता है जब यह उक्त रीतिसे बन कर तैयार रहता है उस समय यदि ब्रह्मका उपासक अपने लिंग शरीर रूपी विद्युतको प्रवाहित करता है तब तो वह मनकी तरह तुरन्त ही ब्रह्मलोकमें पहुंच जाता है, और यदि सूर्यके प्रकाशका सम्बन्ध उस समय ब्रह्मोपासककी ब्रह्मनाड़ीके साथ नहीं होता हो, अर्थात् उस समय रात्रि आदिका अन्धकार हो तो वह उसी समय ब्रह्मलोक में नहीं जा सकता, उसकी गतिमें प्रतिबन्धकता उपस्थित हो जाती हैं इसलिये ब्रह्मलोकमे जानेके लिये श्रुतियोंमें कहे हुये दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण आदि कालकी बडी भारी आवश्यकता होती है, इन कालोंके होने पर ही उपासककी ब्रह्मनाड़ीका सम्बन्ध ब्रह्म-लोकके साथ जुड़ता है अन्यथा नहीं जुडता, संबंधके न जुड़ने पर उपासक उसी समय ब्रह्मलोकमें नहीं जा सकता अर्थात् पूर्वमें कहे हुये १५ दिन तकका भी उनकी गतिमें विलम्ब होना संभव होता है अतः देवयान पितृयाण मार्गोंके निर्णयके विषयमें ब्रह्म-सूत्रोंका और शंकराचार्य्यादि उनके भाष्यकारोंका भी मत ठीक नहीं है किन्तु श्रुतियोंका विचार एकदम विज्ञानमय और युक्ति-युक्त है।

इसी प्रकार धूमादि मार्गसे जानेवालोंके लिये दक्षिणायन कृष्णपक्ष और रात्रिकी भी परम आवश्यकता होती है, क्योंकि ऐसा न होनेसे धूमादि मार्ग प्रतिपादक श्रुतिमें लिखे हुये रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायनका कोई भी मूल्य नहीं रहता, इसलिये चन्द्रलोकमें जाने वालोंके लिये इनकी परमावश्यकता है।

यहां पर यदि कोई यह तर्क करे कि रात्रि आदि कालके न होने पर क्या वे उसी समय चन्द्रलोकके लिये रवाना नहीं हो सकते तो इसका यही उत्तर है कि जो कर्मी उत्तर मार्गके समयमें मरता है उसके लिये अवश्य ही पूर्वोक्त वाधा उपस्थित होती है जिसकी अवधि मेरु स्थान पर छ मास तककी भी हो सकती है, अर्थात मेरु स्थान पर छ मासका दिन होता है और दिनमें कर्मियोंकी यात्रा होती नहीं इसलिए छ मास तकका विघ्न पड़ना एक प्रकारसे युक्ति युक्त ही है। और भारतादि देशोंमे भी इनकी गतिमे १५ दिन तकका तो विघ्न पड़ ही सकता है क्योंकि पन्द्रह दिनका शुक्ल पक्ष होता है और शुक्ल पक्षमे एक तो रात्रिके समय चन्द्रमाका प्रकाश रहता है, दूसरे उस समय चन्द्रमाकी छाया भू पृष्ठकी विरुद्ध दिशामे रहती हैं इसलिये १५ दिन तक उसकी गतिका आरम्भ ही नहीं हो सकता अत. श्रुतियोंमें कहे हुये रात्रि, कृष्ण पक्ष आदि एकदम विज्ञानमय और युक्तियुक्त है इसी लिये चन्द्र-लोकमे जाने वालोंके लिये दक्षिणायन आदि मार्ग प्रशस्त माना गया है। इनके उत्तर मार्गसे न जानेके विषयमे जब श्रुति ही है कि—"न तेन दक्षिणायान्ति" अर्थात् देवमार्गसे कर्मी

नहीं जा सकते तब अन्य प्रमाण हो ही क्या सकता है अतः कर्मियों को चन्द्रलोकमें जानेके लिये रात्रि, कृष्ण पक्ष और दक्षिणायन काल ही प्रशस्त है कि जिसमें मरनेसे तुरन्त ही सीधे चन्द्रलोकमें चले जाते हैं और ब्रह्मोपासकोंके लिये दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण काल ही अति प्रशस्त है कि जिसमें मरनेसे वे सीधे और शीघ्र ही ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं।

—श्राद्ध—

पूर्वमें इस बातका निर्णय हो चुका है कि पुरुष क्या वस्तु है और किन किन कारणोंसे उसको किन किन लोकोंकी प्राप्ति होती है।

जब यह निश्चय हो गया है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वोंका आश्रय लेकर ही मानव शरीरकी सृष्टि होती है ? और जब तक उसकी मुक्ति नहीं होती तब तक ब्रह्मलोकमें या चन्द्रलोकमें उसको लिंग शरीरके द्वारा आना जाना ही पडता है क्योंकि लिंग शरीरमें मनुष्यके भाव लिपटे रहनेके कारण वह श्रद्धा कहलाता है अर्थात् किसी वस्तुमें मनुष्यके अनन्य भाव होनेका नाम ही श्रद्धा है और श्रद्धामय ही पुरुष होता है तथा जो श्रद्धा है वही पुरुष है "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"

(गीता १७-३)

अर्थात् जो मनुष्य अग्निहोत्रादि कर्म करता है उसकी आहुतियोंके सूक्ष्म जलमय वाष्पोंका नाम ही श्रद्धा है तथा तद्भावोंसे भावित होया हुआ पुरुष भी श्रद्धामय ही है तब पुरुषका लिंग शरीर भी श्रद्धा (सूक्ष्म वाष्प) रूप ही सिद्ध होता है।

जब मनुष्यके कर्म भी श्रद्धा रूप हैं और वह स्वयं भी श्रद्धा रूप हैं तब इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह जाता है कि वे आपसमें सजातीय नहीं हों अर्थात् पुरुषके कर्म और वह स्वयं परस्परमें सजातीय होते हैं। एक बात यह भी लिखी जा चुकी है कि केवल कर्मी और उनके कर्म चन्द्रलोकके सजातीय होते हैं और साकारोपासक तथा पञ्चाग्नि विद्याके उपासक और उनके कर्म भी ब्रह्मलोकके सजातीय होते हैं अतः कर्मी और उनके कर्मोंका चन्द्रलोकमे जाना तथा उपासक और उनके कर्मोंका ब्रह्मलोकमे जाना एकदम युक्तिसंगत ही है। जब कर्मियोंका श्रद्धामय लिंग शरीर चन्द्रलोक का सजातीय होता है और ब्रह्मोपासकों का श्रद्धामय लिंग शरीर ब्रह्मलोकका सजातीय होता है। तथा इसी प्रकार कर्मियोंकी आहुतिमय सूक्ष्मवाष्प (श्रद्धा) चन्द्रलोककी सजातीय होती है, और उपासकों की आहुतिमय सूक्ष्मवाष्प ब्रह्मलोककी सजातीय होती है ! तब इनका अपने अपने लोको में जाना तथा वहा जाकर अपने २ कर्मोंके सूक्ष्मफलोंको भोगना भी युक्ति युक्त ही है।

साराश यह है कि कर्मियोके आहुति आदिके सूक्ष्म परिणाम चन्द्रलोकमें चले जाते हैं और उपासकोंके कर्मोंका सूक्ष्म परिणाम ब्रह्मलोकमे चला जाता है, इसलिए चन्द्रलोकके यात्री उन सूक्ष्मफलों को लिंग शरीरसे चन्द्रलोकमे भोगते हैं और ब्रह्मलोकके यात्री अपने संचित किये हुये सूक्ष्म फलोंको लिंग शरीरके द्वारा ब्रह्मलोकमे भोगते हैं। जबतक भोगों की समाप्ति नहीं होती है तबतक वे वहा ही रहते हैं और भोगोंकी समाप्ति होते ही उनको वहासे खिसकना पडता है।

अब यदि इनके इन सूक्ष्म भोगोंको पुत्रादिक श्राद्धोंके द्वारा बढ़ाते रहते हैं तबतो वे और भी अपने २ लोकोंमें आनन्दसे बैठे रहते हैं तथा अपने भोगोंको भोगते रहते हैं, परन्तु उनके कर्मोंमें पुत्रादिकके द्वारा यदि कोई प्रकारकी भी वृद्धि नहीं की जाती है तो उनका अवश्य ही उन लोकोंसे पतन होता है, इसीलिए गीतामें लिखा है कि "पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रियाः" अर्थात् जब पुत्र आदिके द्वारा उनके पास सामान जाना बन्द हो जाता है और निजके कर्मोंकी समाप्ति हो जाती है तब उनको उनलोकोंसे पतित होकर अवश्यही इस लोकमें लौटना पड़ता है।

यह बात पहिले ही निर्णित हो चुकी है कि "पुत्र" पिताकी आत्मा होता है अर्थात् पुत्र पिताका सजातीय होता है अतः पुत्रयदि अपने अन्तः करणमें यह भाव (श्रद्धा) रखकर श्राद्ध आदि पितृ कर्म करता है कि हमारे पितर अमुक प्रकारके हैं और उनकी तृप्तिके लिए अथवा उनके पास पहुंचानेके लिए ही मै अमुक श्राद्धादि कर्म करता हू, तो यहा पर पुत्रके पितृ तृप्तिकारक भाव, उस कर्मके द्वारा बनीहुई सूक्ष्म वाष्पमें लिपटे हुए रहनेके कारण वह श्रद्धा कहलाती हुई अन्तरिक्षमें उडकर चन्द्रलोकमे अथवा ब्रह्मलोकमें जाकर वहा अपने सजातीय उसी पुरुष को प्राप्त होती है जिसके निमित वह बनाई जाती है इसलिए श्राद्धमें दिये हुए द्रव्योंके सूक्ष्म परिणामको पितरों के लिए प्राप्त होनेमें कोई भी संदेह नहीं रह जाता है।

अब यहापर यदि यह आशंका करें कि ऐसा होनेमें लौकिक प्रमाण क्या है! तब हम कह सकते हैं कि यहां अनेक प्रकारके प्रमाण

हो सकते है, जैसे कि आजकल वड़े वड़े शहरों में सभी जगह वेतार के तारोंकी मशीनें रखी रहती है जिनसे लोग थियेटरोंका गानाक अपने घर बैठे सुनते रहते हैं। इनमें यही खूबी रहती है कि जिस रेडियो स्टेशनका गाना सुनना होता है उसके साथ इनका सम्बन्ध जोड़नेसे गाना सुनाई देता है अन्यथा सुनाई नहीं देता। क्यों कि यदि इनमें ऐसा सबन्ध न रखा जाय तो अन्य भी ससार का हल्ला गुल्ला उसमें सुनाई पड़नेका भय रहता है इसलिए उन मशीनों में परस्पर सजातीय सम्बध रखना पड़ता है। अब जैसे इन मशीनोंमेंसे किसी एक मशीनमे किया हुवा शब्द अन्य मशीन में तुरन्त ही पहुंच जाना है इसी प्रकार पुत्र रूपी मशीनके अन्तकरण में उत्पन्न होये हुए भाव तुरन्त ही पितर रूपी मशीन में जाकर प्रभावित होते है और उनको तृप्त कर देते है। कारण यह है कि पुत्रका पिताके साथ सजातीय सम्बन्ध होता है और पुत्रकी आहुतियों का सजातीय सम्बन्ध पिताकी आहुतियोंके साथ होता है अर्थात् जैसे पिता पुत्रका आपसमे सजातीय सम्बन्ध होता है इसी प्रकार उनके कर्मों का भी सजातीय सम्बन्ध होता है इसलिए परलोकमें सञ्चित किये हुए पिताके कर्मोंमें, पुत्रके किये हुए श्राद्धादि कर्म वृद्धि करते है और उनको तृप्त करते हैं, अर्थात् श्रद्धा रूपही पिता है और श्रद्धा रूप ही उसके कर्म है, तथा श्रद्धा रूपही पुत्रके श्राद्ध आदि कर्म है अतः ये आपसमें सजातीय हैं इसीलिए ये एकएकके पास स्वयं ही चले जाते हैं।

जब पुत्रादिकके द्वारा दी हुई वस्तुओंके सूक्ष्म परिणामका नामही

श्रद्धा है, तब यह श्रद्धा जिस बिधि या रीतिसे वनाई जाय उस विधि या कर्मका नाम श्राद्ध होना कितना युक्ति युक्त है! यह प्रत्यक्ष ही है इसलिए हिन्दुओंका "श्राद्ध कर्म" वैदिक है और विज्ञान मूलक है, तथा सृष्टि विज्ञानके अनन्त रहस्य इसके अन्दर भरे हुए हैं अतः यही श्राद्ध विज्ञान है और यही श्राद्ध विज्ञान का वैदिक रहस्य है।

-श्राद्धबिधिकीउपपत्ति-

पूर्वमें इस बातका निर्णय कर दिया गया है कि श्राद्ध क्यों किया जाता है! और उसके द्वारा पितरोंकी तृप्ति किस प्रकार होती है।

अब कुछ यह भी निर्णय कर देना आवश्यक है कि श्राद्धोंके प्रकार या बिधिमे भी कोई न कोई वैज्ञानिक रहस्य एवं वैदिक रहस्य अवश्य होगा।

श्राद्धोंके प्रकारो पर या विधिपर बिचार करते हैं तो मालूम होता है कि श्राद्ध अनेक प्रकारके होते हैं जैसे अन्त्येष्टी, द्वादशाह, पाक्षिक, षाणमासिक, (छमाही) वार्षिक, (बर्षोदी) एवं महाल्या (आश्विनके श्राद्ध) श्राद्ध और ग्रहण कालिक श्राद्ध इस प्रकार और भी दैनिक आदि श्राद्ध होते हैं लेकिन यहापर संक्षेपमें मुख्य २ श्राद्धों पर ही विचार किया जाता है। यहां पहिले अन्य श्राद्धोंको छोडकर पाक्षिक श्राद्ध पर ही विचार करते हैं। पाक्षिक श्राद्ध की स्थापना क्यों हुई इसका उत्तर देनेमें हेतु यही मालूम होता है कि पूर्वमें जो यह निश्चय किया गया है कि दक्षिणायन होने पर भी शुक्ल पक्ष होनेसे चन्द्रलोकमें

जानेवालोंको पन्द्रह दिन तक कृष्णपक्षकी प्रतीक्षा करनी पड़ती, है अतः इसपर पुत्रादिक इस प्रकारका विचार करते है, संभव है कि हमारा पितर आजतक चन्द्रलोकमे नहीं पहुंचा होगा तो अब पन्द्रह दिनके बाद तो अवश्य ही पहुंच गया होगा अतः चन्द्रलोकमें पहुंचने के साथ उसकी तृप्ति करनेके लिए ही पाक्षिक श्राद्ध किया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मलोकमे जानेवालोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिए क्योंकि दक्षिणायन और कृष्ण पक्ष होने पर इनकी गतिमें भी १५ दिन तकका विघ्न पड़ना सम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्मलोक में जाने-वाले संवत्सरको भी प्राप्त होते हैं इसी आधार पर वार्षिक श्राद्धकी स्थापना हुई है महालया श्राद्ध आश्विन मासके कृष्णपक्षमे किया जाता है, यहा ही प्रायः सायन तुला संक्रान्तिका आरम्भ होता है और यहा ही पुराने जमानेका दक्षिणायन, तथा नये जमानेका दक्षिण गोल आरम्भ होता है, दक्षिणायनका आरम्भ ही हमारे पूर्वज मेरु निवासियोंका दिनास्त है अर्थात् उनकी रात्रिका आरम्भ है,इस रात्रिके आरम्भ होते ही पितृयाण मार्गका दरवाजा खुल जाता है जो उत्तरायणके छ मासतक बन्द रहता है इसलिए आश्विनके पितृपक्षमे किये हुए श्राद्धका सूक्ष्म परिणाम समस्त उत्तरगोलार्ध निवासियोंको चन्द्रलोकमें जाकर तुरन्त ही मिल जाता है, जो उत्तरायणके छ माससे प्रतीक्षा करते हैं, इसी तत्त्वके आधार पर आश्विन मासके पितृपक्षका श्राद्ध अवलंबित है।

एक तत्त्व इस श्राद्धमें औरभी है, वह यह हैकि संसारमे अपने मरे हुए पितरका प्रथम पितृ संमेलन भी इसी समय कराया जाता है

इसका भी रहस्य यही है कि उत्तर गोलार्धके विविध भागोंमें रहने वाले मनुष्योंको रात्रि और दिनकी विविधता होनेके कारण पितरके चन्द्रलोकमें पहुचनेमें विलम्ब होना सम्भव रहता है, अतः उसके पुत्र आदि विचारते हैं संभव है कि हमारा पितर अबतक चन्द्र-लोकमें न पहुंचा हो, और इस समय तो पितृयानका मार्ग खुल गया है अतः इस समय तो पितृलोकमें उसके जानेमें कोई संदेह ही नहीं रह जाता, और इस समय वह अवश्य ही चन्द्रमें जाकर हमारे पूर्वज पितरोंके साथ सम्मिलित हो जावेगा, इसी लिये इस आश्विन मासके श्राद्धके समय ही मृतकका पितृ सम्मेलन कराया जाता है, यही पितृ सम्मेलन करानेमें रहस्य है। एक श्राद्ध सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणके समय भी किया जाता है जिसका फल धर्मशास्त्रों में अन्य श्राद्धोंकी अपेक्षा करोड़ों गुणा अधिक लिखा है, यह वात एक प्रकारसे युक्ति युक्त ही है।

पूर्वमें इस बातका अच्छी प्रकारसे निर्णय कर दिया गया है कि भू लोकसे चन्द्रलोकमें जानेका मार्ग अंधकारमय है और उसको पहले तो पृथ्वीकी छाया बनाती है और आगे चन्द्रमाकी छाया बनाती है, अर्थात् भू छाया और चन्द्र छाया ये दोनों मिलकर ही चन्द्रलोकमे जानेका पितृयान मार्ग बनाती है।

पूर्णिमाको भूमिकी छाया चन्द्रमाके समीप तक जाती है और अमावश्याको चन्द्रमाकी छाया भूमिके समीप तक आती है। यद्यपि प्रति पूर्णिमाको भूमिकी छाया चन्द्रमाके एकदम समीपसें रहती है, परन्तु भू पृष्ठकी तरफसे यह (छाया) चन्द्रमाके द्वारा

प्रकाशित रहती है इसलिये यह पितृयाणके बनानेमें उपयुक्त नहीं होती, लेकिन उसदिन यदि चन्द्रमाका ग्रहण होता है तो भूमिकी छायाका अंधकार एकदम चन्द्रमा तक फैला रहता है, अतः उस समय भू पृष्ठसे चन्द्रलोक तक एक दम सीधा मार्ग बन जाता है जिसमें कोई प्रकारकी भी टूट फूट नहीं रहती, इसलिये उस समय किये हुए श्राद्धका सूक्ष्म परिणाम भी उसी क्षण एक दम सीधा चन्द्रलोकमें चला जाता है और उसी समय पितरोंकी तृप्ति करता है। इसी प्रकार सूर्य ग्रहणके समय चन्द्रमाकी छाया भी चन्द्रलोक से चलकर पृथ्वी पर लगी हुई रहती है अतः उस समय भी भू पृष्ठसे लेकर चन्द्रलोक तक चन्द्रमाकी छाया पितृयाण मार्गको बनादेती है इसलिये उस समय भी किये हुए श्राद्धका सूक्ष्म परिणाम चन्द्रलोकमें जाते देरी नहीं लगाता है अतः यह भी सद्यः तृप्ति कारक है।

यद्यपि प्रति अमावस्याको चन्द्रमाकी छाया भू पृष्ठके समीपमें रहती है और इसी लिये अमावस्या पितरोंकी मानी गई है, लेकिन संभव है कि उस दिन भी चन्द्रमाकी छाया भू पृष्ठ से अलग रहकर पितृयाण मार्गको नहीं बनावे, क्योंकि उसदिन भी भू पृष्ठसे इसका अन्तर ५, अंश तक उत्तर या दक्षिण रहना संभव है, लेकिन ग्रहणके समयतो भू पृष्ठके साथ इसका कुछ भी अन्तर नहीं रहता, इसलिये उस समयके श्राद्धके परिणामको पितरोंके पास पहुचनेमें कोई प्रकारका भी संदेह नहीं रहता, इसीलिये अन्य श्राद्धोंकी अपेक्षा ग्रहण कालिक श्राद्धका कोटि गुणा अधिक फल लिखा है यही ग्रहण

लेक श्राद्धकी श्रेष्ठता है और यही ग्रहण कालिक श्राद्धकी श्रेष्ठता
वैज्ञानिक रहस्य है।

—ब्राह्मण भोजन—

कितने ही मनुष्योंके मनमें इस प्रकारका प्रश्न उठता है कि
द्धोंमें ब्राह्मण भोजन क्यों कराया जाता है? इसका उत्तर यह है
ब्राह्मण ज्ञान प्रधान जाति है और श्राद्धमें ज्ञानी एवं वेद पाठी
ह्मणोंको भोजन कराना लिखा है।

यह पहिले भी लिख दिया गया है कि ज्ञान अग्नि स्वरूप एवं
ाश स्वरूप होता है अत वेदज्ञ एव ज्ञानी ब्राह्मण भी अग्नि स्वरूप
होना संभव है। वेदोंमें भी ('ब्राह्मणोस्यमुखमासीत्" "मुखादग्नि
ायत" यहा ब्राह्मणको ईश्वरका मुख एवं अग्निका सहोदर (भाई)
ा है इसलिये भी ब्राह्मण अग्नि स्वरूप ही सिद्ध होते हैं।
ले यह भी लिख दिया गया है कि वेदोंमें अग्निको अमृत माना
ा है और "हवि" पदार्थको भी शास्त्रोंमें अमृत ही लिखा गया
तथा यह भी निर्णय कर दिया गया है कि अग्निमें दी हुई आहु-
ोंका सुक्ष्म परिणाम पितरोंको अवश्य मिलता है, अतः यहा
ाग रूपी अग्निके विषयमे यह कह सकते हैं कि ब्राह्मणका मुख
अग्निकुण्ड हैं उसमें भोजन रूपी आहुति देनेसे उसका सूक्ष्म
णाम आपसे आप ही पितरोंके पास चला जाता है अर्थात्
को तृप्त कर देता है इसी लिये श्राद्ध पद्धतियोंमे लिखा रहता
के—

"ब्राह्मणस्य मुखे अमृते अमृतं जुहोमि" अर्थात् ब्राह्मणके अमृत

रूपी मुखमें हवि रूपी अमृतका होम करता है, ब्राह्मण अग्नि रूप एवं अमृत रूप होनेसे उसका मुख भी अमृत रूप होता है और पितरोंके निमित्त दी हुई "हवि" भी अमृत रूप ही होती है अतः ये आपसमे सजातीय होते हैं, सजातीयमे सजातीयका होम करना भी ठीक ही है पितरोंका लिंग शरीर भी अमृत रूप ही होता है इसलिये अमृत रूपी ब्राह्मणके मुखमें, अमृत रूपी "हवि' को देनेसे अमृत रूपी पितरोंके पास स्वयमेव ही पहुंच जाती है क्योंकि यह सब आपसमे सजातीय होते हैं सजातीयका सजातीयके पास जाना प्राकृत नियम होता है इसी तत्वके आधार पर श्राद्धोंमे ब्राह्मण भोजन कराना लिखा गया है ।

—पिंड—

श्राद्ध करते समय पिण्ड भी बनाये जाते हैं, पिण्ड नाम गोलाकार वस्तुका है लेकिन यहा पर गोलाकार वस्तुको लेते हुये पिण्ड शब्दसे "देह" लिया जाता है अमरकोशादि कोश ग्रन्थोंमे भी लिखा है कि—

पिण्डो बोले बले सान्द्रे देहागारैक देशयोः
देह मात्रे निवापे च गोला सिह्लक योरपि"

(मेदिनी)

उपरोक्त कोशके प्रमाणानुसार श्राद्ध विधिमे पिण्ड शब्द देह मात्रमें लिया जाता है अर्थात् श्राद्धमे जो पिण्ड बनाये जाते हैं वे पितरोंके शरीर वा देह बनाये जाते हैं या यों कहिये कि उन पिण्ड रूपी शरीरोंमे पितरोंका आह्वान किया जाता है और वे सूक्ष्म

रूपसे उन पिण्डोंमें आकर ठहरते हैं। अब शंका यह होती है कि पिण्ड शब्द यहां पर यदि देहका वाचक लिया जाता है और जो पिण्ड बनाये जाते हैं वे यदि पितरोंकी देहही बनाई जाती है तो इसमें तो बडी भारी विपरीतता उपस्थित होती है क्योंकि मनुष्यका शरीर तो प्रतिमा रूप होता है अर्थात् जैसी मनुष्यकी आकृति होती है वैसी ही देह होती है इसलिये पिण्ड भी मनुष्यकी आकृतिके अनुसार ही बनाये जाने चाहिये ? परन्तु मनुष्यकी प्रतिमा स्वरूप न बनाकर गोलाकार बनाये जाते हैं इसका क्या कारण है ?

यहां पर रहस्य यह है कि संसारकी और भी वस्तु वाष्प रूपमे होती है वह आकर्षण शास्त्रके सिद्धान्तानुसार आकाशमे घूमती हुई गोलाकार या पिण्डाकार हो जाती है, जैसे सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि पिण्ड बनते हैं, ये पूर्वमे जब वाष्प रूपमें थे तब ये भी इधर उधर फैले हुये थे लेकिन जब इनमें आकर्षण काम करने लगा तब ये ही एकत्रित होकर गोलाकार बन गए, सूर्य तो अब भी वाष्प रूप ही है इसलिए वर्त्तमान समयमें भी इसको गोलाई बन बन कर तैयार होती है।

पूर्वमें यह बात भी लिख दी गई है कि पितरोंका लिंग 'शरीर भी एक प्रकारसे तरल वाष्प रूप ही होता है इसलिए उपरोक्त सिद्धान्तानुसार यह भी गोलाकार ही रहता है, इसके गोलाकार रहनेके कारण ही श्राद्धमें तदाकार पिण्ड गोल ही बनाए जाते हैं यहा पिण्डोके गोलाकार बनानेमें वैज्ञानिक तत्त्व है।

पिण्ड एक प्रकारसे पितरोंकी प्रतिमा बनाई जाती है और

उनमें पितरोंके प्राणोंकी प्रतिष्ठा कर कर उनका पूजन किया जाता है। यह बात पहिले ही लिखी जा चुकी है कि श्राद्ध कर्मको करनेवाले पुत्र आदिका यहा अनन्य भाव होनेपर ही पितर आ सकते है अन्यथा नहीं इसी लिए पद्धतियोंमें लिखा रहता है कि "पितरों का ध्यान करते हुए उत्तरकी तरफ मुख करके श्वासको खींच कर पिण्डों पर छोड़ो" इसका यही वैज्ञानिक तत्त्व है कि जब श्राद्ध करने वाला अनन्य भावसे पितरोंका ध्यान करता है तब पितर स्वय उसके पासमें आ जाते है और वह जब श्वासको खींचता है तब वे वायु रूपसे उसके अन्तःकरणमें प्रवेश कर जाते है तथा जब वह अपने श्वासको पिण्डोंपर छोड़ देता है तब वे उन पिण्डोंमें प्रवेश कर जाते हैं और उन ब्राह्मणोंके साक्षी भूत होकर उस कर्मको देखते हुए एवं उसके सूक्ष्म फलको ग्रहण करते हुए तृप्त हो जाते है।

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक उनका ध्यान करके श्वासको खींच कर उन पिण्डों पर छोडनेका नाम ही पिण्डोंमें उनके प्राणोंको प्रतिष्ठा है। बादमें विसर्जन करनेके समय पिण्डोंको सूंघा जाता है यही उनका विसर्जन है क्योंकि श्वासको खींचकर जिस मार्गसे उनका आह्वान किया जाता है उसी मार्गसे सूंघनेके द्वारा उनका विसर्जन किया जाता है। श्राद्धकर्त्ताके अन्तःकरणमें पितरोंकी अनन्य भक्ति (श्रद्धा) होनेसे ही पितृलोकसे लेकर उसके अन्तः-करण तक एक प्रकारका मार्ग सा बन जाता है उसी मार्गसे पितर आते जाते रहते है इसी लिए आह्वानके समय तो उत्तरकी ओर मुंह

करके श्वासको खींचकर पिण्डों पर छोडा जाता है और विसर्जन के समय पिण्डोंको सुँघ कर श्वासको अलग छोड़ा जाता है अर्थात् जिस मार्गसे पितरोंको बुलाया जाता है उसी मार्गसे उनको उल्टा भेज दिया जाता है।

और जो उत्तरकी तरफ मुख कर कर श्वासको खींचा जाता है इसका कारण यह है कि देवयान और पितृयाण मार्ग खासे तौर पर उत्तर मेरुसे ही आरम्भ होते है, अर्थात् उत्तर मेरु पर जव. रात्रि का आरम्भ होता है तब उत्तर भागके प्रायः सभी स्थानोंसे पितृ-याणका भी आरम्भ हो जाता है अतः उत्तरीय भू गोलार्द्धके किसी भी भागसे आने वाले पितर उत्तरके तरफसे ही आ सकते है इसी तत्वके आधार पर उत्तरकी तरफ मुख कर कर श्वासको खींचा जाता है यही पिण्ड बनाने और उनके पूजनेमें वैज्ञानिक तत्व है।

—दक्षिण-प्लववेदी—

पिण्डोंकी वेदी दक्षिणप्लव (दक्षिणकी तरफ ढलवा) बनाई जाती है ? इसमें तत्व यह है कि वेदी एक प्रकारसे पृथ्वीका आकार रूप बनाई जाती है, क्योंकि पितरोंके लिये पृथ्वी हो पात्र रूप होती है, लिखा है कि "पृथ्वी ते पात्रं द्यौरपि धानं ब्राह्म-णस्य मुखे अमृते अमृतं जुहोमि" अर्थात् पृथ्वी ही पितरोंका पात्र (आनेका स्थान) है। भूगोलके नक्सोंमें पृथ्वीके उत्तर मेरुको ऊपर रखा जाता है और दक्षिण मेरुको नीचे, अर्थात् उत्तरकी तरफसे पृथ्वी ऊंची मानी जाती है और दक्षिणकी तरफसे नीची

तथा गोलवस्तुमें वीचके भाग, उन ऊपरके भागोंसे एकदम सीधे नीचे नहीं होते, किन्तु तीर्यक्‌रूपसे या प्लव (ढलवां) रूपसे दिखाई देते हैं, उत्तर मेरुके ऊंचे होनेके कारण ही वीच वाले भारत आदि देश उससे नीचे अथवा ढलवा दीख पडते हैं।

जब पृथ्वीके वीचके भाग उत्तरकी अपेक्षा दक्षिण प्लव दिखाई देते हैं, तथा यदि पृथ्वी ही पितरोंका पात्र है, तब तो यह बात स्वयमेव सिद्ध होती है कि पितरोंका वह पात्र (वेदी) भी दक्षिण प्लव ही है, इसी लिए वेदी दक्षिण प्लव वनाई जाती है, यही वेदीके दक्षिणप्लव वनानेमें वैदिक एवं वैज्ञानिक तत्व है।

† समाप्त †

यत्ना से पढ़नाजी

॥ श्री गोतमाय नमः ॥

श्री सामायक हिंदी पाठ

प्राकृत से अनुवादित

(लेखक व अनुवादक)

मास्टर-गौरीलाल गुप्त (वाचसकर) पड़ीसाम

कोटा (राजस्थान)

वीर सं. २४४८

विक्रम १९८०

प्रति १०००] [मूल्य भेट

* श्री विठ्ठलनाथ प्रेस, कोटा *

कम्पोजर—मोतीलाल गुप्त रामशंकर कोटा (राजपूताना)

॥ श्री वन्दे जिनवरम् ॥

श्री सामायिक हिन्दी पाठ

नमस्कार मंत्र

दोहा—नमस्कार अरि हंत को, सिद्ध सहित आचार्य ।
उपाध्याय पद वन्दिता, सकल साधु शिरनाय ॥

वन्दना करने का पाठ

छप्पय नं. १

तितिय बार गुरु देव आपको हाथ जोड़ कर ।
करुं प्रदक्षण कान दाहिने मान मोड़ कर ॥
नम्र भाव से नमस्कार स्तुतिः सनमाना ।
करता हूं सत्कार धर्म गुरु देव समाना ॥
मंगल अरु कल्याण के करने वाले आप हैं ।
ज्ञानी गुरु की भक्ति से कटें जन्म के पाप हैं ॥

अथ इरया वही का पाठ

सोरठा—तव आज्ञा शिरधार हे भगवन गुरुदेवजी ।
हिंसा का अपभार, चलते फिरते जो हुवा ॥

दोहा-होता हूं निवृत्त मैं, आज्ञा शिर पर धार।
पाप दोप कुछ हो लगा, पुनि निवृत निस्सार॥

छप्पय नं. १

चलते फिरते राह जीव की घात हुई हो।
नीर बीज हरी ओस कीड़ियां कुचल गई हो॥
फूलण कच्ची गार जाल पर किया आक्रमण।
मेरे जी से दुःख देन हित हुवा साक्रमण॥
एकेन्द्रिय दो इन्द्रि के तीन इन्द्रि अरु चारके।
पांच इन्द्रि सम जीवको कुचला हो यदि मारके॥

छप्पय नं. २

सन्मुख आते हुवे जीव विन कारण मारे।
सिर रज डारी भूमि किये संघर्ष विचारे॥
किये परस्पर ऐक संघटित दुःख दिया हो।
और उपद्रव किये स्थान अस्थान किया हो।
उनकी आयू के विना ही मुक्त किये हौं प्राणजो।
सबनिष्फलहोवहपापअबपहुंचायेअतित्राणजो॥

अथ तस्सउत्तरी का पाठ

दोहा-आत्मशुद्धि बलबुद्धि हित प्राश्चित हितपूर।
तीन शल्य से रहित हों पाप कर्म हो चूर॥

सोरठा-त्यागों कछुयक काल काया से सम्बन्ध में ।
शुद्ध भाव प्रतिपाल एक ठाम थिर बैठके ।

छप्पय नं. १

इतना उसमें और रखूं आगार विचारी ।
उंचा नीचा श्वास खास की कदपि बिमारी ॥
छींक जँभाई अरु डकार चक्कर आने पर ।
अधो वायु के वेग मूरछा आजाने पर ।
सूक्ष्म अंग के चलन से सूक्ष्म श्लेषम दोष से ।
लखना सूक्ष्म द्रष्टि से यह कारण विन होश से ॥

छप्पय नं. २

अन्य कई आगार रखूं भावी वश होवे ।
कार्योत्सर्ग न जब तक मेरा पूरण होवे ॥
तब तक भगवन अरीहंत को नमस्कार कर ।
पालन करता हुवा रखूं काया को मैं थिर ।
एक स्थान में बैठ कर मौनवृति अरु ध्यान धर ।
काया सह निज आत्म को पाप कर्म से पृथक कर ॥

अथ लोगास का पाठ

दोहा-प्रगटायो संसार में धर्म रूप श्रीमन्त ।
राग द्वेष से रहित है ऐसे श्री आरिहंत ॥

सोरठा

केवल ज्ञानी आप कीर्ति करूं भवमाथ की ।
जपत कटे भव पाप तीर्थकर चोबीस को ॥

छप्पय नं. १

रिषभदेव श्री अजितनाथ सम्भव पद वन्दू
अभिनन्दन श्री सुमति पदम प्रभू पार्श्व सुचन्दू ॥
राग द्वेप से रहित चन्द प्रभु अन्तर्यामी ।
सुवधि नाथ पुफ दंत नाथ श्री शीतल स्वामी ॥
श्री श्रेयांस वसु पुज्यजी विमलनाथ पद वन्दि कर ।
अनन्तनाथ जिन धर्म सहशान्ति चरण में शीश धर ॥

छप्पय नं. २

कुन्थ्र् अरंच मल्लि वंदना मुनि सुबृत्त को ।
नेमनाथ पद वन्दि राग अरु दोंप रहित को ॥
रिष्ट नेमि भगवान पार्श्व श्री महावीर को ।
वन्दित पद चोईस तिर्थं कर धीर वीर को ॥
पृथक परम जिन राजने कर्म रुप रज मल किया ।
जन्म मरण के मार्ग को चोबीसों जिन क्षय किया ॥

छप्पय नं. ३

सर्व तिर्थं कर देव द्रयों तुम पूज्य हमारे ।
वन्दित हों कर कीर्ति लोक से सिद्ध सिधारे ॥
मुझको दो सम्य कत्त्व ज्ञान की शिक्षा स्वामी ।
निर्मल और प्रधान समाधी अंतर्यामी ॥
रवि शशि फीके तुम लखत उदाधि रमण उपमा कही !
गंभीरा तव सिद्ध हो मुक्ति मिले इच्छा यही ॥

अथ सामायक लेवा को पाठ

छप्पय नं. १

करता हूँ हे पूज्य सामयिक लाभ जोग का ।
जब तक नियम न पूर्ण त्याग है तानिक भोग का ॥
करता प्रत्याख्यान सेवता रहूँ अटल हो ।
तीन योग दो करण करुं नहीं स्वयं विचल हो ॥
औरों से कुछ भी नहीं मन वच काया से कहूँ ।
हे भंते इस पाप का प्राइश्चित निन्दित रहूँ ॥

दोहा-गुरु की सांची साख से करुँ ग्रहण सामाय ।
अलग करुं सब पाप से तुमको चेतन राय ॥

अथ नमु थुण का पाठ

दोहा—नमस्कार अरिहंतजी आदि धर्म भगवंत।
चतुर संघ के तीर्थ हो स्वयं बोध गुणवंत ॥

छप्पय नं. १

पुरुषों में हो श्रेष्ठ पुंडारिक कमल समाना।
पुरुषो में परधान गंध हस्ती सम जाना ॥
उत्तम लोक विलोक लोक के स्वामी माना।
और हितेषी दृष्य मान उद्योत कराना ॥
अभय ज्ञान और मोक्ष के देने वाले ज्ञान दो।
सकल जीव को शरण ले संयम जीवन दान दो ॥

छप्पय नं. २

बोध बीज पुनि धर्म दान के आपहि देता।
और धर्म उपदेश धर्म के नायक नेता ॥
स्वयं सारथी बने धर्म रथ आप चलाते।
धर्मों में वर श्रेष्ठ चार गति अंत कराते ॥
चक्र वृति सम नाथजी जग दधि दीप समान हो।
शरणागत वत्सल विभो हित् सकल परधान हो ॥

गणना करके किया काल को पूरा विस्मृत ।
बिना काल ही लगे पालने सामायक वृत ॥
ऐसे ही प्रतिचार का पाप रूप फल जो लगा ।
निष्फल हो भगवान वह पाप दोष को दो भगा ॥

ऐसा दश मन के दश वचन के बारह काया दोष ।
बत्तीसों में से लगा निष्फल हो अघरोग ॥

छप्पय नं. २

नारिकथा अरु देश कथा पर ध्यान दिया हो ।
और राज की बातचीत पर कान दिया हो ॥
विधि में अविधि करी जानकर या अजान कर ।
अतिक्रम व्यतिक्रम अतीचार अनाचार जानकर ॥
मन वच काया में नाथ जो लगा दोष भगवन हमें ।
निष्फल हो वह पाप मम करता साखी जिन तुम्हें ॥

॥ इति ॥

"हार्दिक इच्छा"

जैन समाज सामायिक को प्रधान मानती है। परन्तु वह प्राकृत में होने से सर्व साधारण में उसके सच्चे भावों को समझना कठिन नही तो असम्भव अवश्य है। इन्ही विचारों से प्रेरित होकर "श्री सामायिक हिन्दी पाठ" सेवा में भेंट करता हूं। आशा है जैन समाज अथवा अजेन भी सामायक के वास्तविक अर्थ को समझ कर लाभ उठावेंगे। साथ ही यह कह देना भी उपयुक्त होगा कि जैन समाज के अन्य विद्वान "प्रति क्रमणादि" सूत्र का जबतक हिन्दी अनुवाद न करदें तब तक मेरी इस अनअधिकार धृष्टता पर निरर्थक टीका टिप्पणी न करने की कृपा करेंगे।

भाद्रपद शुक्ल ४   संघ का सेवक

(कोटा)   सा. गौरीलाल (वाचमेकर)

॥ श्रीः ॥

॥ वन्दे जिनवरम् ॥

चतुर्भावना पाठ माला

मूल लेखक

पण्डित-रत्न श्रीमान् पं० रत्न चन्द्र जी
जैन मुनि, शतावधानी पद विभूषित

अनुवादक

श्री स्थविर पद विभूषित जैन मुनि श्री १०८
श्री फ़क़ीरचन्द्र जी महाराज का शिष्य
फूलचन्द्र मुनि, जैन धर्मोपदेशक

प्रकाशक—

रत्नलाल अर्हद्दास मित्रसेन जैन.

सोनीपत

प्रथम वार १००० प्रति	वीराब्द २४५५ विक्रमाब्द १९८५	अमूल्य

समर्पण

श्रीमान्

परम पवित्र पूज्यपाद, गुरुवर्य्य !

श्री० फ़कीरचन्द्र जी महाराजाधिराज !

आपकी माधुर्य वाणी द्वारा हम ज्ञान लाभ पारहे हैं, यह प्रताप आपके भरसक परिश्रम का ही है। प्रभो ! आपके अपरिमित उपकार मे आकर्षित हो यह सामान्य अनुवाद आपके कर कमल में सादर समर्पित है।

गुरु-चरण सेवक—

मुनि फूलचन्द्रः

जैन धर्मोपदेशकः

अनुवादक का

संक्षिप्त जीवन परिचय

श्लोकाः

ध्यानाद्यस्यार्थ सिद्धिः प्रभवति, निखिलज्ञानरूपोऽमरो यो ।
ध्येयः सच्चित्स्वरूपो विमलगुणयुतो, रागबन्धादिशून्यः ॥
सर्वज्ञोऽनन्तशक्ति र्विविध शिवकरो, योगिभिर्ध्यानिगम्यः ।
सोऽयं कल्याणमूर्तिः परमकरुणया, रक्षताद्वो जिनेशः ॥ १ ॥

स जीवः पुण्यादि प्रकृति गुणतोऽनन्तविभवः ।
स्वयं कर्ता भोक्ताऽऽगमगिरि जिनेन्द्रः कथितवान् ॥
कदाचिन्नो वृद्धिः क्षतिरपि न चास्यास्ति शुभदः ।
स न कुर्य्याच्छान्ति जिनसुरवरोऽनाद्यनिधनः ॥ २ ॥

शिखरिणी

सूर्य्यश्चन्द्रो ग्रहादि र्गगनतलगतस्तारकादिर्भवेऽस्मिन ।
जीवो देहानुकूलः क्षितिरनलजलं, वायुरग्निर्मनोऽपि ॥
चेतन्य पुद्गलोऽपि प्रथितगुणयुतः सिद्धभावानुकूल ।
एतत्सर्वं मिलित्वा प्रभवति भुवनं, पातु, श्री वीर देव ॥३॥

धर्म्म व्यत्ययकरं मलीमसाचारे, पञ्चमारकर्को

सर्वं दुःखाकरे, विविधवेदनामये, केषामपि प्रवृत्तिर्मा भूया-दिति स्याद्वादांगयोगान्तर्गत दयासत्याचौर्य्यब्रह्मचर्य्यापरि-ग्रहादि पञ्च विधयम (महाव्रत) परिपालनामक्तचित्ता जिनेन्द्रैर्मुनिपदे नियुक्तास्तथाऽऽगमनिगमोक्त धर्मप्रचार परा-यणाश्च ॥

जिनधर्म्मानुगा, देव गुरु भक्तिप्रवणमानसाः श्रमण-वचन श्रद्धावन्तो, नान्यथा वादिनो, जैनागम नव तत्वाव-गन्तारो, द्वितीयाश्रमस्थाः श्रावक (गृहस्थ) पदे शोभिता भगवद्भिः ॥

सच्चिदानन्दरूपेण, वीतरागेण, जिनेन, कर्म्मबन्धाद-बन्धो भूत्वा, सर्वानन्दानन्दिनेन, व्यापकस्वभावेन, सर्वं विदा, मुक्तिर्निरूपिता ॥

चतुर्थकालान्ते च, त्रिविधतापसन्तप्तमानजनतर्प-णाय, श्रुतगणधरावतारेण, जिनोक्तद्वादशांग विशिष्टशिष्ट शास्त्राध्ययनाध्यापनादि धर्मवृद्धि प्रवृत्तिकृते परोपकार वृत्तेन स्थितो धर्मादिरूपोऽनाद्यनिधनाचारः श्रीमता सुधर्माचा-र्येणोदाहृतः ॥

नेन चतुर्विधसंघसंगिसाधुसाध्वीनां श्रावकश्राविका णामन्योन्यमधर्मनिवृत्तिपूर्वकधर्मविचारणाय यात्राऽऽविर्भा-वोमन्यतेस्म ॥

सुधर्माचार्यतश्चत्वारिंशदधिकगुणनेत्र २३४० मिता ब्दानन्तर निग्रन्थविद्योतमान महाकविपरिकर कुमुदाकर राका निशाकर श्री जैनगणालिसमास्वादितचरणारविन्द मकरन्द श्री नाथूराम जैनाचार्येण श्रुतचारित्रप्रचारयोर्जिन धर्म्मयोः प्रचारेणा स्वान्तेवासिभ्यो मुनिनेत्र (२७) मितेभ्यः जिनोदित सिद्धान्तं प्रतिपाद्यादिजिनोक्ताऽनादिजिनधर्म्मप्र-चारोऽभिहितः ॥

ततोऽशीतिमिताब्दान्ते सर्वषड्जीव निकायाभ्युदयप्रवृ-त्तये भज्जुलालाचार्येण नाथूरामाचार्यपद सुशोभनं कृतम् । यश्चनिगमागमतर्क ज्योतिषशास्त्रजन्य रहस्यादिपारंगमोजातः॥

श्रीमद्भज्जुलालजैनाचार्य सम्प्रदायानुसरणशीलब्रह्म चर्याश्रमसम्पन्न सुसंयमीभूतभव्य प्रबोधक तपस्विप्रवरो राम-लालजैनमुनिर्जातः ॥

यदन्ते निवासार्हस्य श्रीमदोशवंशसमुत्पन्नस्य वार्द्ध-क्यपद विभूषितस्य मृदुलस्वभावस्य पूर्वजन्मजन्मान्तर कर्म्म तथार्थं श्रीमान् जैनमुनिवर्य्य श्रीफकीरचन्द्रसाधु समभिजातः ॥

यतः

नमाम्यहं श्रीशफकीरचन्द्रं, गुणाकरं किन्नर पूज्य पादम् ।

योगीश्वरं तोपकरं स्वरूपं, लावण्यगात्रं बहुसौख्यकारम् ॥१॥

भवन्तमीशंभजतोऽनुजातु, दुःखान्यलं कानिच्च नापि तापैः ।

पाणिस्थचिन्तामणिमंगभाजं, कानिर्भनिपीडयितु शशाक ॥२॥

भक्त्या जना ये तव पाद सेवां, कुर्व्वन्ति सन्ते तु लभन्तिचैव ।

न दुःखदौर्भाग्यभयं न मारिः,स्मरन्ति ये श्रीशफकीरचंद्रम् ॥३॥

भव्या जना ये सुनमन्ति नित्यं, तेषां मनोषां सफली करोति ।

लक्ष्मीं यशो राज्यरतिं प्रभूतिं, विद्यावरश्रीललनासुखानि ॥४॥

कविः सुबुद्ध्या गुरुसन्निधोऽपि,कस्ते गुणान् वर्णयितुं समर्थः ।

तथाऽपित्वद्भक्तिरतश्चपुष्पः, करोति नित्यं गुणवर्णनां ते ॥५॥

महार्णवे भूधरमस्तकेऽपि, स्मरन्ति ये स्वामि फकीर चन्द्रम् ।

सुखैः सहायान्ति नराः स्वधाम्नि,ततो भवन्ति प्रणमामिकामम्

न रोग शोका रिपुभूतयक्षा, नवग्रहा राक्षस दस्युचोराः ।

न पीडयन्ति प्रभुनाममंत्रै,स्तस्मान्नराणां शिवदायकोऽस्ति ॥७॥

जैनाब्द सम्बोधन पूर्णचन्द्रः, मत्सेवकेच्छामित देव वृक्षः ।

शमप्रधानस्तु सुसाधुमूर्ति, र्जीवेश्वरः स्वामिफकीरचन्द्रः ॥८॥

इत्थ गुरोरष्टक मुत्तमं यः । प्रभातकाले पठते सदैव ।

किंदुर्लभं तस्य जगत्त्रयेऽपि, सिध्यन्ति सर्वाणि समीहितानि ॥

अथ मरुमण्डलाधीश्वरराज्य बीकानेर पुरान्तरालस्थ

"माडला शोभाना" ग्रामनिवासार्ह राठोर क्षत्रियवंशावतन्स विपिनसिंहवर्म्मणो, धर्म्मभार्याकुक्षितो, धर्म्माम्बुजप्रभाकरो, महानुभावभावितः पुष्पचन्द्रो नेत्रबाणांकेन्दु १९५२ मिते, वत्सरे, मधुमासस्य सिते, दलेऽवतारं धृतवान् । पुनरंक शरांकेन्दु १९५९ वैक्रम शरदि, सद्गुणाधिष्ठान जैन मुनि फकीर चन्द्रं, सद्गुरु, स्वीकृत्य, तत्परि चर्यासक्तमना बभूव । तथा च वसु रसांकेंदु, १९६८ मितेऽब्देऽध्यात्मविद्याध्ययन विधाय, पौषमासासिते दले एकादश्यां पांचाल प्रांतान्तर्गत "खान पुराख्य' ग्रामे (पाञ्चालदेशांतर्गत "रोहतक" प्रांतान्तः पाति "गोहाना" मिध तहसील पार्श्व वर्तिनि) "डूंगरमल सोहनलाल" श्रावकयो माहात्म्यतया गुरुचरणारविंदमकरन्द भृगेन, जैनी दीक्षांगीकृता, पुनश्च देशाटन कुर्वन् सहस्रशोऽजैनान् जैनपदमारोप्य, खाष्टांकेंदु १९८० मितेऽब्दे श्वेताम्बर जैनानुयायि जैन स्थानी योऽधिकृतो देशस्थवैश्यवशीयान्, श्वेताम्बर सुजैनसम्प्रदाये, स्थिरीकृता, दिगम्बरजैनसम्प्रदाया द्विनिस्सार्य, च ।

तथा च स्वर्णप्रस्थ नगरे नवेन्दुशशांकवसु १९८१ मितेऽब्देऽपूर्वचातुर्मास्यव्रत नियम परिपालनाय, स्थितिः-

तेति जन श्रुतितो, आयतेऽत्र जैनमुनीनां, प्रथममेव, चातुर्मास्यं जातम् । नूतनजलद निनादानुकारि, मृदुमधुरगम्भीर ध्वनिभिर्महामहिममहाराजपुष्पेन्दुमुनेर्धर्मोपदेशनः, भोपालपत्तनेऽतीवधर्मप्रचारोऽजनि । यावद्‌गगनाकाशं, तावज्जैनशासनमुन्नति शिखरोपरि शोभाधिवास वासितं भवन्त्विति प्रार्थयते—

भव्यात्महितैषी—

चन्द्रशेखर शर्मा

व्याकरणाचार्यः

(काशी)

प्रस्तावना

इस पृथ्वी तल के लोकों को सूर्य चाहे छोटासा दिखलाई देता है, परन्तु वस्तुतः वह एक बहुत बड़ी दुनियां है, यही समझ लेना पर्याप्त है, यही नहीं किन्तु उसीके प्रकाश से अपनी सारी सृष्टि (दुनिया) को जीवन शक्ति मिली है, ठीक ! इसी प्रकार "चतुर्भावना पाठ" एक छोटासा ग्रन्थ प्रतीत होता है, परन्तु इसका भाव—अर्थात् रहस्य तो अत्यन्त विस्तृत है और उच्च कोटि का है, यही नहीं किन्तु इसमें वह शक्ति है, जो ऐहिक, और पारलौकिक, इन दोनों मार्गों पर चलने की मनुष्य को निर्विघ्नतया योग्यता देती है, जिसका अनुभव पाठकों को इसके आद्योपान्त पढ़ जाने से स्वयमेव होसकता है।

इसके विधाता श्रीमान् पण्डित रत्न प्रसिद्ध भूषण शतावधानी पण्डित रत्नचन्द्र जी जैन मुनि हैं, महाराज श्री ने अनेक रागों में संस्कृत पद्य रचना करदी है, वह तो मानो सोना सुगंध वाली उक्ति समन्वय कर डाली है, जिसने इन संस्कृत पद्यों का स्वाध्याय कर लिया है, उससे एक श्लाघ्य कोटि की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा गया।

यही कारण है कि महाराज 'श्री फूलचन्द्रजी गुरु राज" ने मेरे कहने पर, इस पद्यमयी रचना का हिन्दी अनुवाद करना उचित समझा। भावना शतक के अन्तमें मैंने इसे पढ़ा था, पढ़कर मुझे यही विचार हुआ कि इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी पब्लिक को बडा उपकारी होगा, व्यवहार में बाधारूप न हो ऐसी शैली में उक्त धर्म्म का रहस्य इसी ग्रन्थ मे समझाया गया है, रोच-कता, व्यापकता, तथा हृदय ग्राहिता, व्यावहारिकत्व, पारमार्थिकत्व, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदि विषयों का समझाना इसकी खास खूबियां है।

यह कर्तव्य कार्य यथा-शक्य करने पर भी कई दोषों का रहजाना सम्भवित है। आशा है विद्वज्जन दोषो के लिये क्षमा करेंगे और सूचना देंगे ताकि दूसरी आवृत्ति के समय पर दोष न रहने पावे।

मैं मानता हूँ कि इस पुस्तक के पढने से इंग्लिश पाठी विद्यार्थिओं को चरित्र संगठन और मनोबल की शुभ प्राप्ति होगी।

निवेदक—

लक्ष्मण दास जैन, विद्यार्थी

सोनीपत (पञ्जाब)

* मैत्री भावना *
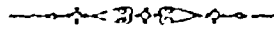
राग आशावरी--ताल त्रिताल

मैत्र्या भूमिरतीव रम्या—भव्यजनैरेव सुगम्या ॥ मैत्र्या० ॥

॥ ध्रुव पदम् ॥

भ्रातृ भगिनी सुत जायाभिः, स्वजनैः सम्बन्धिवर्गैः ।
समान धर्मैर्ज्ञातिजनैश्च—क्रमशो मैत्री कार्या ॥ १ ॥

कालेऽतीते भवेत्प्रवृद्धः, यथा च मैत्री प्रवाहः ।
ग्रामजना ये-जानपदा वा, मैत्र्यान्तेऽन्तरभाव्या ॥ २ ॥

गवादयस्तिर्यञ्चः सर्वे, विकलेन्द्रियास्त्रयोऽपि ।
भूताः सत्वा ये जगतिस्युः, सर्वे मैत्र्या ग्राह्या ॥ ३ ॥

यथा यथा स्यादात्मविशुद्धि, स्तथा तथैतद्वृद्धिः ।
पूर्णविशुद्धौ मैत्री भावना, व्याप्ता स्यात् त्रिजगत्सु ॥ ४ ॥

पितृ सुतजाया बन्धुता, जाता न येन कदापि ।
नास्ति तादृशोऽपिजनोऽत्र कथ मुचितास्यादमैत्री ॥ ५ ॥

निन्दन्त्यपकुर्वन्ति ये वा, घ्नन्ति द्वेषाग्निभिः ।
मत्वा तेषां कर्मप्रदोषं, तेष्वपि मैत्री न हेया ॥ ६ ॥

गमुणावांछावनक्लेश,-द्वेषाऽमया प्रवदनम ।
एते सर्वे गुणाः पशूनां कथ मुत्तम जन सेव्या ॥ ७ ॥

ममय निभृतममरममरमिन्वं, विहर! यथेष्टं म्यान्त!
कुरु कुरु मैत्री सर्वैः साकं, कमपि नामित्रं चिंतय ! ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्य का मन यदि मैत्री भावना की भूमि (जगह) बन जाय, तो वह हृदयरूपी भूमि अत्यन्त रमणीय, मनोहर दीखने लग जायगी· मात्र देखने में ही अच्छी न होगी, किंतु सबोंमें श्रेष्ट पाक देने वाली, कराल भूमि की सदृश, उच्च फल प्रद भी तो गिनी जावेगी। ऐसी मही [1]. प्राप्त करने का अधिकार मात्र भव्य—भाग्यशाली मनुष्यों को ही मिल सकता है। परन्तु ऐसे वैसे पुरुषों को उस भव्य प्रदेश में विचरण करने का अधिकार भी नहीं है॥

❀ मैत्री का क्रम ❀

मैत्री का पहिला पात्र एक उदर में से जन्मे हुए भाई बहिन का जोड़ा है, क्यों कि उनका सहवास (एक जगह रहना) सहज (एक साथ पैदा होना) होने से तथा साथ ही एक खून का सम्बन्ध होजाने से, उन की मैत्री स्वभाव सिद्ध है, बनावटी नहीं। उस के उपरान्त मैत्री के पात्र पुत्र और स्त्री हो सकते है।

यद्यपि पुत्र प्रथम अवस्था में पालनीय माना गया है, इसी लिये कुछ मनुष्यों ने मैत्री की योग्य गणना में

---

[1] मनो भूमि।

इस का कुछ समावेश नहीं किया है. तो भी (प्राप्ते तु षोडशेवर्षे पुत्रं मित्र वदाचरेत्) इस नैतिक पद्य के कथानुकूल सोलह वर्ष के बाद वह पुत्र भी मित्र की गणना में आ जाता है । इस के अनन्तर अपनी पत्नि (स्त्री) को भी अपनी दासी न मान कर, अपनी जीवन सहचारिणी, (सुख दुःख में साथ बसने वाली), मित्र के समान ही जानना चाहिये: फिर अपने कुटुम्बी और सम्बन्धियों के साथ भी मैत्री भाव को आरोपित कर दीजिये । बस इतने में मित्रता की जड़ गहरी हो जाने पर ही स्वधर्मि भाई और सजातीय भाइयों का भी बार (नम्बर) आ जाता है, अर्थात् उन के साथ भी मैत्री भाव से मनको एकता साध लेनी चाहिये ॥ १ ॥

मैत्री के मार्ग में चलते हुए जैसे २ समय में विस्तार होगा, तैसे तैसे मैत्री का प्रवाह भी बढ़ जायगा । ज्यों २ प्रवाह वृद्धि होगी त्यों २ अपनी एक जाति वालों से और अपने गाम में रहने वाली अन्य जातियों से और अन्य धर्मियों से मन को दूध पानी की तरह मिला लेना चाहिये, अर्थात् एक भी ग्राम-बन्धु और देशबन्धु को, मन मिलाव की सीमा से बाहिर न होने दो ॥ २ ॥

मनुष्य मात्रके साथ दृढ सम्बन्ध हो जाने पर, गाय

भस आदिक पशु और पक्षियों का भी प्रसङ्ग आ जाता है। यद्यपि मनुष्यों की तरह, पशुओं के साथ मित्रता का प्रत्येक व्यवहार नहीं हो सकता, तथापि यहां मित्रता का इतना ही प्रकाश डाल दो, कि उन को शारीरिक व मानसिक किसी प्रकार का दुःख न देना चाहिये, उन का स्वाभाविक अधिकार उन से न छीन लो, उन पर बेजा कोप न करो, परिताप न दो, भूखा न रखना, गोचर भूमि का कर हटवादो, उन की शक्ति से अधिक बोझा न लादो और हर समय उन की सार संभाल रक्खो,क्योंकि प्रथम अनुव्रत में भी यही कथन है।

गृहस्थी स्थूल हिंसा का अवश्य परित्याग कर डाले, क्योंकि सर्वथा हिंसा का त्याग गृहस्थ से हो जाना अत्यन्त कठिन है। इस लिए स्थूल शब्द ग्रहण किया गया है। फिर त्याग में भी निरपराधी जीवों को दुःखित [1] न करें, इस प्रकार के नियम से न्याय मार्ग में और धर्म मार्ग में किसी प्रकार की बाधा न पहुंचेगी। निरपराधियों को पालना व अपराधियों को दण्ड देना, इस सीमा में छोटे से कबीलदार से लगाकर, राजा महाराजा सार्व भौम (चक्रवर्ती) तक सब ही जिन धर्म का सुख पूर्वक पालन कर सकते हैं और अहिंसा को पाल सकते हैं।

फिर उस के पांच अतिचार रूप दोषों का भी निवारण

---

[1] दुःखित।

करना चाहिये, यथा—(१) क्रोध के वश हो जीवों को बांधना, (२) वध करना, प्राण व्यपरोपण करना (मारना) अपितु बालकों को पढ़ाने के लिए जो ताडना की जाती है, वह उन की शिक्षा या हित के लिये है, किन्तु आत्म पीड़ा व प्राणातिपात करने के लिए नहीं, अध्यापक बालकों को शिक्षा के लिये ही ताडित करता है, न कि प्राणनाश करने के लिये। तात्पर्य यह है कि क्रोध से प्राण वियोग रूप व्यापार का नाम ही वध या हिंसा-अतिचार कहलाता है, (३) अपने नेत्र विषय की पुष्टि या पोषण करने के लिए किसी के अंगोपांग का विच्छेद करना, (४) पशुओं की शक्ति से अधिक बोझ भार का लाद देना, (५) समय पर अन्न पानी का न देना या थोड़ा देना क्योंकि ये मूक अनाथ जीव पूर्व कर्म के पाप रूप फल से जो पशुयोनि को प्राप्त हो गये हैं, उन की भली प्रकार से रक्षा न करना भी दोष है।

इस प्रकार पशु और पक्षियों के अनन्तर विकलेन्द्रिय यानी दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय वाले जीवों का भी मैत्री भावना के अधिकार में समावेश हो जाता है इन पर भी मैत्री का शासन जम जाने पर भूत और सत्त्व अर्थात् वनस्पति, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, इन पांच स्थावरों पर भी मैत्री भाव को आरोपित करें यानी उन का व्यर्थ नाश न करता हुआ उन की रक्षा करे।

न करे तब ही ठीक। परन्तु इस जगत् में तो कोई भी ऐसा प्राणी बाकी नहीं छोड़ा है कि जिस के साथ पिता, पुत्र, स्त्री, पति, भाई, बधु आदि का सम्बन्ध न किया हो, अर्थात् प्रत्येक जीव के साथ अनन्त बार नाना सम्बन्ध किये जा चुके हैं। अतः समस्त प्राण, भूत, जीव, स्वत्व, इस भव के सम्बधी नहीं हैं तो क्या हुआ? पूर्व भव के सगे तो अवश्य हैं ही। उन पूर्व भव के सम्बधी वर्गों के साथ मैत्री को तोड़ कर उन से शत्रुता करना कहां तक उचित है? नहीं कदापि नहीं। ॥ ५ ॥

अपकारी के साथ मैत्री

जो जन अपनी निन्दा करता है और प्रति समय अपमान और अवज्ञा करता हो। इतना ही नहीं, किंतु किसी समय द्वेषाग्नि से जल भुन कर, लकड़ी आदि का प्रहार भी कर बैठे, तोभी हमारा यही कर्तव्य है कि हम उन की ओर से अपना मैत्री का प्रकार जाने से न हटावें। यही समझ लें कि उन की निन्दक प्रकृति और अपमान करने वाली प्रवृत्ति, उन के पूर्व कृत कर्मों पर ही निर्भर है, अर्थात् उन के कुछ ऐसे ही अशुभ कर्मों का उदय है, कि जिस से सज्जनों के ऊपर भी वे शत्रुता का भाव कर बैठते हैं। यदि हम उन के कर्मों का दोष अपनी मैत्री भावना में किसी प्रकार का धब्बा
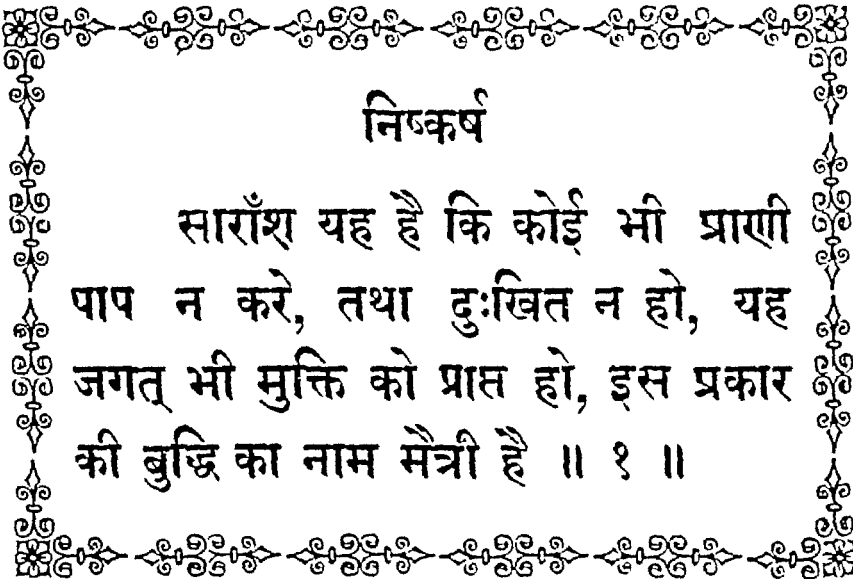
लगा दे, तब तो इसमें अपनी ही अधिकांश निर्बलता व मनोबलकी हीनता समझी जायगी। बस इसमें बाधा डालने वाली निर्बलता की पुष्टि कदापि न करो और उक्त दुष्टों के साथ भी मैत्री रक्खो जिस से उन में ऐसा असर पैदा हो कि उन अवज्ञा करने वाले दुर्जनों को स्वयं धोका हो जाय और उन की शत्रुता, मित्रता रूप में बदल जाय ॥ ८ ॥

❀ मित्रता मानुषिक गुण है ❀

किसी के साथ शत्रु भाव रखना या क्लेश, द्वेष, ईर्षा करना, यह पाशविक गुण है। एक गली के कुत्ते दूसरी गली के कुत्तों से वैर प्रकट करते हैं, क्लेश करते हैं और अपनी गली में से निकाल देने की कोशिश करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य जन्तु भी परस्पर लड़ मरने का स्वभाव ही रखते हैं। भाव यह है कि द्वेष और कलह, पशुओं में ही अधिकाधिक पाया जाता है इस लिये अमैत्री, पाशविक गुण है—मानुषिक नहीं। क्या मनुष्य को मानुषी जाति पाकर, ऐसे गुण धारण करने उचित हैं ? उत्तर में यही कहना पडता है-नहीं ! पशुसे जब मार्त्य [1] जन्म-प्रधान और उत्तम माना जाता है, तब मनुष्य मात्र का यह कर्तव्य है, कि जितनी पाशविक वृत्तियां और पाशविक गुण अपनी दृष्टि मे आजावें, उन्हें उसको तुरन्त ही दूर

[1] मनुष्य।

प्रमोद भावना *

वह तेरी मैत्री की छाया के नीचे आकर, शत्रुता को छोड़ देगा और प्रेमभाव का सेवन करेगा। इतना ही नहीं, किन्तु स्वजातीय वैर को भी भूल जावेगा। अतः अपने कोष (ख़ज़ाने) में मित्रता (मैत्री भावना) का संग्रह कर ॥ ८ ॥

निष्कर्ष

सारांश यह है कि कोई भी प्राणी पाप न करे, तथा दुःखित न हो, यह जगत् भी मुक्ति को प्राप्त हो, इस प्रकार की बुद्धि का नाम मैत्री है ॥ १ ॥

---

* प्रमोद भावना *

(भैरवी त्रिताल)

सद्गुणपाने सक्तं मे मनः ॥

धन्या भुवि भगवन्तोऽर्हन्तः, क्षीण सकल कर्म्माणः ।

केवलज्ञान विभूति वरिष्ठाः प्राप्ताखिल शर्म्माणः॥ सद्गुण० ॥१॥

धन्या धर्मधुरन्धरमुनयो, गृहीत महाव्रत भाराः ।

ध्यानसमाधि निमग्नमानसा, त्यक्तसकलव्यवहाराः ॥ २ ॥

सेवाधर्मरता गतस्वार्था, अभ्युदय कुर्वन्ति ।

धन्यास्तेऽपि समाजनायका, न्यायपथं विहरन्ति ॥ ३ ॥

अज्ञातो न चलन्ति कदापि गृहीतव्रता गुणगेहाः ।

धन्यास्ते गृहिणां धर्मिण, त्यक्ताऽन्याय धनेहा ॥ ४ ॥

सत्यवादिनो ब्रह्मचारिणः, प्रकृत्या भद्रा सरलाः ।

धन्यास्ते गृहिणोऽपि गुणाढ्याः, परोपकारे तरलाः ॥ ५ ॥

न्यायोपार्जितलक्ष्म्या पुन्य, गुप्तं ये कुर्वन्ति ।

घ्नन्ति दुःखं दीनजनानां, धन्यास्ते भुवि सन्ति ॥ ६ ॥

प्रभजन्ति ये भ्रातृभावनां, रक्षन्ति सन्नीतिम् ।

धन्यास्ते मार्गानुसारिण, पालयन्ति कुलरीतिम् ॥ ७ ॥

सुखिनो गुणिनो भवन्तु सर्वे क्षुद्रो वा स्युर्महान्तः ।

नश्यन्तु जगतां दुःखानि सैव प्रमोदो मे हृदः ॥ ८ ॥

भावार्थः—किसी व्यक्ति में गुण देख कर, प्रसन्न होने को प्रमोद भावना कहते हैं। इस भावना का उम्मेदवार अपने हार्दिक | उद्‌गारों (झलों) | को निकाल कर कह रहा है कि मेरा मन अच्छे गुणों का पान करने में समुल्लास पूर्वक आतुर बन रहा है और गुणी पुरुषों के गुणगान करने में और उन गुणों के आस्वादन करने में उत्कंठा लगा रहा है।

※ समस्त गुण शिरोमणि अर्हन् भगवान् ※

उस सर्व शक्तिमान, अर्हन भगवान् को धन्य है, कि जिन्होंने चारित्र के मैदान में आकर, कर्मों के साथ युद्ध किया और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घातीय कर्मों की सब प्रकृतियों का उच्छेद किया और केवलज्ञान (सम्पूर्ण ज्ञान) केवल दर्शन (परिपूर्ण दर्शन बोध) की विभूति को प्राप्त किया, और भय, शोक, सुख, दुःख, आमय※, स्नेह, सङ्कल्प, विकल्पादि द्वंदों※ को निवारण किया-- अखिलात्मिकानन्द (सम्पूर्ण आत्म सबधी सुख) के झरने को प्रकट किया। ऐसे सर्वगुण सम्पन्न वीतराग महापुरुष को कोटिशः धन्यवाद है।

| मन के। | मन के विचारों से मतलब है। ※ रोग।
※ झगड़ों को।

सन्त पुरुष

वे संत पवित्र हैं और धन्यवाद के पात्र हैं कि जिन्होंने धर्म के धुरन्धर (जूए) को अपने स्कंध (कंधा) पर धारण किया है जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन पांच यमों (महाव्रतों) का पालन करते हैं, जिनका धारण करना पांच सुमेरु के समान है। रात दिन पवित्र परमात्मा का ध्यान करते हैं। मनोवृत्तियों को रोक कर, शुद्ध समाधि में तल्लीन रह कर जगत् के प्रपञ्ची व्यवहारों को, जिन्होंने सर्वथा जलाञ्जली दे दी है। स्वयं संसार सागर से पार होकर औरों को पार करने में लगे हुए हैं। स्वयं शांतिरस का पान करते हुए औरों को शांति पाठ पढ़ाते हैं। ऐसे संत पुरुष मुनिराज सदा धन्यवाद के पात्र हैं ॥ २ ॥

देश सेवक

जिस सेवा धर्म का समाचरण करना योगी पुरुषों के लिए भी कठिन बताया है, उस कठिन धारा व्रत के मर्म को पाकर जो जाति, समाज, देश, धर्म व आत्मा की सेवा करने में तत्पर हो रहे हैं जिन में किसी प्रकार से भी स्वार्थ का लेश नहीं है ऐसा इच्छा या कीर्ति महत्व। वे मान को छोड़ कर, परमार्थ बुद्धि से सतत सेवा मार्ग पर दृढ़ हो रहे हैं, जाति, देश, समाज, धर्म या आत्मा के उत्कर्ष में सतत

प्रयास कर रहे हैं अनेक शारीरिक मानसिक आपत्ति पड़ने पर भी, धार्मिक, व्यावहारिक, न्याय, नीति का मान करते हैं और मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते हैं, तन मन धन से सेवा बजाकर जो समाज के सेवक होकर नायक बन रहे हैं, ऐसे निःस्वार्थी पुरुषों को धन्यवाद है ॥ ३ ॥

❀ श्रावक ❀

जिनका धर्म में अखण्ड श्रद्धान है और भौतिक-पौद्गलिक-पदार्थों से निर्ममत्व होकर धर्म को ही जिन्होंने ऊँचा आसन दिया है; ज्ञान, दर्शन, चरित को निर्मल बना कर विशुद्ध सम्यक्त्वको धारण करा है; जिनकी जिनवाणीमें इतनी असीम श्रद्धा है कि उनके मनको कोई भी नर, नरेन्द्र, सुर, असुर, सुरेन्द्र, पशु आदिक धर्म-पथ से भ्रष्ट नहीं कर सकता, श्रावक के १२ व्रतों के पालन करने में निरन्तर दत्त चित्त होकर तथा कुटुम्ब की पालना के व्यवसाय में अन्याय, तथा अनीति के पैसे का प्रवेश नहीं होने देते, ऐसे गुण के सदन (घर) रूप श्रावकों—गृहस्थों—को भी धन्य है ॥ ४ ॥

❀ परोपकारी पुरुष ❀

जो पुरुष किसी भी प्रसंग में अपने मुख से असत्य वचन नहीं बोलता, तथा असत्य के भोग में लाखों की कमाई

होती हो तब भी उस को लात मारकर, अन्य का योग नहीं देते (अर्थात् अन्याय सगन काम नहीं कर सकते) उत्तम नर की पराई स्त्रियों को माता समान समझते हैं तथा प्रकृति (स्वभाव) के भद्र (सरल परगामी निष्कपट) होते हैं गुण में दीर्घ (बड़ा) होकर रात दिन परोपकार के कार्यों में कुशल रहते हैं ऐसे महोपकारी जनों को भी धन्यवाद समुचित ही है ॥ ५ ॥

ॐ दाता ॐ

न्याय से प्राप्त की हुई लक्ष्मी को जो भंडार में गाड़ न करके सन्मार्ग में लगाते हैं, और कोई भी न जान सके, इस रीति से शुभ दान करके पुण्य सञ्चय करते हैं (लोकों में अपने दानकी बात को प्रकट न करना, यह दाता पुरुष का पहिला काम था परन्तु आज कल नाम के भूखे कुछ ही दान करते होंगे परन्तु समाचारपत्रों में (अखबारों में) दाताओं की नामावली में अपना नाम तलाश करते हैं और बड़ा ही गर्व करते हैं) दीन, दुखी, अपंग मनुष्यों को पूर्ण सहायता देकर उनके दुःखों का विच्छेद करना जिनका मुख्य उद्देश्य है, उन उदारचित्त ऐसे दाता पुरुषों को अनेक धन्यवाद हैं ॥ ६ ॥

ॐ मार्गानुसारी

सत्पुरुषों की नीति रूप वीथिका (गली) का उल्लंघन न करने वाले उदार हृदय जन सदैव आदर भाव रखते हैं अर्थात् सत्कार के, प्रत्येक व्यवसाय (कारोबार) में नीति का ध्यान रखा की जाती है अपने कुल के मद व्यवहार और सदाचार का, तथा धार्मिक नियमों का पू[illegible]

किया जाता है· पद २ (कदम २) पर अधर्म और अनीति का भय जिनके मनमें उपस्थित होरहा है और जो मार्गानुसारी पुरुषो के कहे हुए ग्रथों में मार्गानुसारी के ३५ गुणों के संग्राहक है, उन मार्गानुसारी पुरुषों को भी धन्य है ॥ ७ ॥

❀ उपसंहार ❀

मेरे मित्र हों या शत्रु हो। परन्तु वे सब सुखी हो, सात्विक गुणी बनें, प्रति दिन उनका अभ्युदय बढता रहे, सद्बुद्धि से प्रेरित होकर सन्मार्ग में प्रवृत्त हो। अशुभ कर्मकी हानि होने पर जगत् के समस्त दुःखों का सर्वथा लय हो और सर्वत्र सुख और गुणो का प्रचार देखने में मेरे मनको परम प्रसन्नता है और इसी मे मेरा अप्रतिम—अनुपम—आल्हाद है। इस श्रेणी में ही मेरी प्रमोद भावना है, किम्बहुना जगत् में सुख और गुणो का ही साम्राज्य स्थापित हो।

निष्कर्ष

समस्त दोषों का नाश करने वाले, तथा वस्तु–तत्व (वस्तुका यथार्थ स्वरूप) को देखने वालों के गुणों में जो पक्ष-पात किया जाय, उसको ही प्रमोद भावना कहा गया है।

हे करुणे ! हे दये ! तुम मेरे पास आओ, आपके लिये जैसा स्थान चाहिये, मैं अपना सुकोमल हृदय अर्पण करता हूँ। वहाँ बस कर उदारता पूर्वक, दुःखी, दीन और लाचार मनुष्यों के दुःखों का विनाश कर।

❁ अनाथ बालक ❁

हे करुणे ! इस भारत भूमि मे बहुत से बालक, भाग्य की हीनता से—कम नसीबी से, बाल्यावस्था में ही अपने माता पिताओ के वियोगी बन रहे है, रक्षक माता पिता, व रहने को स्थान—घर—इन दोनों की अनुपस्थिति (ग़ैरहाज़री न होना) में वे बिचारे इधर उधर भटकते फिरते है—वे अपनी जाति के लाल जिगर के टुकड़े, एक २ टुकड़े के मुह-ताज बन कर घर २ दर २ रोते फिरते है, कल जिनके माता पिता लखपति थे, करोड़पति थे, लेन देन करते थे, आज उनके बालक बेघर, बेदर, खानाबदोश होकर मुसलमान ईसाई बन रहे है—विधर्मि, हिंसक हो रहे है। उनसे यातनाएं सहन न हो सकीं। यदि प्रातःकाल में खाना मिल गया तो क्या ? रात को पेट की आग फिर सताती है। वे भारत के सपूत आपके भाई बहिन तो इस प्रकार क्षुधा वेदनी सह रहे है, अतएव आप आराम में पड़कर बेहोश न बनो। कुछ अपने मा बहिन बेटीकी भी ख़बर लो, जिनको कल बाहिर की हवा तक भी नहीं लगी

थी, आज वे दानों को तरसती हैं, इज्जत आबरू के ढाँपने को चिथड़े मयस्सर होरहे हैं। जिनका महल आलीशान मकान बना था, उनको आज टूटी फूटी झोंपड़ी भी नहीं मिलती। जिनकी गोद में बच्चे भूख के मारे विकल होगए हैं, आँखें पथरा गयी हैं, जिगर पर पत्थर सा रख कर जी रहे हैं, वे हमारे भारत भूमि के अनाथ हैं, हमारी कौम के सच्चे रत्न हैं. इन्हें कुछ सहायता दो और उनका परमार्थ साधो। यह उपकार अवश्य होगा, इस के मासूम बालकों को बेघर बेधन मत रहने दो। इन [illegible] हीन अनाथ बालकों को स्थान दो, उन्हें सब प्रकार का आश्वासन (धैर्य) दो, अनाथाश्रम जैसी संस्थाओं को उत्पन्न करो (स्थापन करो), एक हाथ से यदि ऐसा काम न कर सको तो प्रचलित आश्रमों (संस्थाओं) में ही मदद करो, उन्हें शक्त्यनुसार पोषित करो. [illegible] ॥ [illegible] ॥

वृद्ध माता पिता

का मात्र आधार था, अपनी कमाई से अपने वृद्धों का भरण पोषण करते थे, नष्ट (मर) होजाने पर आजीविका में निताન्त संदेह हो चला है, शरीर शिथिल होगया, कम्पन वायु से हाथ, पैर, शिर, काँपा करते हैं, जंघा बल क्षीण होगया है, इन्द्रिय धर्म ढीले पड गये हैं, अर्थात् आँखों से कम दीखना, कानों से न सुनना या बधिर पन आजाना; भूख और दुःख इन दोनों से पीड़ित वृद्धजन अपने अवशेष जीवन निर्वाह के लिये आर्थिक सहायता की आकांक्षा रखते हैं। उनकी रक्षा के लिये हे दया माता! मेरे मनोमंदिर मे निवास कर और उन वृद्ध पुरुषों को सब प्रकार का साहाय्य पहुँचा ॥ २ ॥

❀ विधवा स्त्रियां ❀

हे करुणे! बहुत सी बालिकाएं छोटी उमर में ही अपने पूर्वोपार्जित कठोर कर्म्मों के अशुभोदय से पति के सौभाग्य से वंचित् हो गई है। हाय! विचारी विधवा कह लाने लगी और निराधार रोने लग रही है। जब कि उन का बाल्यावस्था में विवाह हुआ था, तब तो माता, पिता, सासु, ससुर, सब प्रकार का सत्कार सन्मान किया करते थे, परन्तु अब एक सहायक पति के बिना सासु ससुर तथा समस्त कुटुम्बिक जनों की दृष्टि में अप्रिय मालूम होने लगी हैं। नणंदों के मार्मिक और कठोर शब्द उन के मर्मस्थल (हृदय)

कथादिकों को, कांटे का मार्ग समझना चाहिये, अर्थात् ऐसी वाहियात पुस्तकें न पढ़ो, जिनके सहवास (साथ रहने) से अपना व्रत भंग हो जाय। पुंश्चली, निरंकुशा, दुश्चरित्रा, कुटनी आदि कुलटाओं से बच कर रहना चाहिये। जो विदेशी वस्त्र हैं, चमक दमक व भड़कीले हैं, कामोद्योतक हैं, ऐसे सूक्ष्म बारीक वस्त्र और रेशमी वस्त्रों को भी धारण न करना चाहिये, और जिसके खाने से विकार पैदा हो, कामदेव बढ़ता हो, तामसी भावना पैदा हो, ऐसा भोजन भी नरक दायक समझ कर न खाओ। अपने आत्मिक कृत्यों को अपने सन्मुख रख कर हिताहित का विचार करने में लगो।

अन्यान्य दुःखद विकथाओं को छोड़ कर अपने घरके कामों से फुरसत पाते ही, समय पर विद्याध्ययन करो, उत्त-मोत्तम शिक्षामार्ग दर्शक शास्त्रों को पढ़ो और सुनो, तथा उन पर दृढ़ विश्वास रख कर भली प्रकार मनन करो। अनुभव प्राप्त करो, कि जिससे धार्मिक भाव कभी भी विलग न होने पावे। मानसिक चांचल्यता से पीछा छूट जाय, उपकार पथ के विचार में मन लगे, ऐसी शिक्षा दीक्षा सम्पन्न भारतरत्न महिलाओं में भारत के सपूतों की बड़ी श्रद्धा होगी, वे उन्हें भक्ति पुष्पांजली अर्पण करेंगे।

यदि अपने मन, वचन, काय, इन तीनों योगों की मात्रा पवित्रता में बढ़ चढ़ गई है, तो आत्म शुद्धि को फैलाने के

लिये, अपने कुल नायकों की अनुमति लेकर सन्यास-साध्वी वृत्ति को अङ्गीकृत करना चाहिये और आध्यात्मिक योग बल शक्ति का आश्रय लेकर, ब्रह्मस्वरूप की परीक्षा करके, अनन्तानन्त शक्ति बढ़ाकर, तन्मय होजाने में प्रयत्न शीला बनो ।

परन्तु जहाँ तक बुद्धि की पवित्रता, योग्य साहस, उत्तम ज्ञान न पा सको, वहाँ तक इस मार्ग में प्रवेश करना, अत्यन्त कठिन समझकर, उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिये और अपने सहन शीलन मे, तितिक्षा में, बाधा पहुचाने वाले कर्मको परित्याग कर देना चाहिये ।

इसके लिये प्रथम घरमें अभ्यस्त होना योग्य है। समस्त विद्याओंको पढकर विधवाओं को, अपनी जाति व देश की समस्त स्त्री समाज की उन्नति के लिये यत्र तत्र भ्रमण करके, भारत महिलाओं को अपने उन्नत उपदेश के बलसे, उनकी भ्रान्ति और अज्ञता को मूलसे उखाड़ कर फेंक देना चाहिये, जिससे फिर वे सती स्त्रियां अपनी स्त्री समाज के गौरव को बढ़ाने के लिये अपने कल्याण के मार्ग को खोज निकालें और अपनी श्रेष्ठ चर्या में लग कर दासीत्व की शृङ्खला (जञ्जीर) से मुक्त हों और उस प्रयत्न मे निरत हों, कि जिससे अपना भारत स्वातन्त्र्य वेश भूषा से शोभित हो और उनके निर्बल भाव सबल बन जायं, और समस्त कुटुम्ब में ईर्षा, द्वेष, क्लेश लेश भी न रहे, और अपने पवित्र जीवन को ऐसा आदर्श रूप

कथादिकों को, कांटे का मार्ग समझना चाहिये, अर्थात ऐसी वाहियात पुस्तकें न पढ़ो, जिनके सहवास (साथ रहने) से अपना व्रत भंग हो जाय। पुंश्चली, निरंकुशा, दुश्चरित्रा, कुटनी आदि कुलटाओं से बच कर रहना चाहिये। जो विदेशी वस्त्र हैं, चमक दमक व भड़कीले हैं, कामोद्योतक हैं, ऐसे सूक्ष्म बारीक वस्त्र और रेशमी वस्त्रों को भी धारण न करना चाहिये, और जिसके खाने से विकार पैदा हो, कामदेव बढ़ता हो, तामसी भावना पैदा हो, ऐसा भोजन भी नरक दायक समझ कर न खाओ। अपने आत्मिक कृत्यों को अपने सम्मुख रख कर हिताहित का विचार करने में लगो।

अन्यान्य दुःखद विकथाओं को छोड कर अपने घरके कामों से फुरसत पाते ही, समय पर विद्याध्ययन करो, उत्त-मोत्तम शिक्षामार्ग दर्शक शास्त्रों को पढ़ो और सुनो, तथा उन पर दृढ़ विश्वास रख कर भली प्रकार मनन करो। अनुभव प्राप्त करो, कि जिससे धार्मिक भाव कभी भी विलग न होने पावे। मानसिक चांचल्यता से पीछा छूट जाय, उपकार पथ के विचार में मन लगे, ऐसी शिक्षा दीक्षा सम्पन्न भारतरत्न महिलाओं में भारत के सपूतों की बडी श्रद्धा होगी, वे उन्हें भक्ति पुष्पांजली अर्पण करेंगे।

यदि अपने मन, वचन, काय, इन तीनों योगों की मात्रा पवित्रता में बढ चढ गई है, तो आत्म शुद्धि को फैलाने के

लिये, अपने कुल नायकों की अनुमति लेकर संन्यास–साध्वी वृत्ति को अङ्गीकृत करना चाहिये और आध्यात्मिक योग वल शक्तिका आश्रय लेकर, ब्रह्मस्वरूप की परीक्षा करके, अनन्तानन्त शक्ति बढ़ाकर, तन्मय होजाने में प्रयत्न शीला बनो ।

परन्तु जहॉ तक बुद्धि की पवित्रता, योग्य साहस, उत्तम ज्ञान न पा सको, वहॉ तक इस मार्ग में प्रवेश करना, अत्यन्त कठिन समझकर, उसकी प्रतीक्षा करनी चाहिये, और अपने सहन शीलन में, तितिक्षा में, वाधा पहुंचाने वाले कर्मको परित्याग कर देना चाहिये ।

इसके लिये प्रथम घरमें अभ्यस्त होना योग्य है। समस्त विद्याओंको पढ़कर विधवाओं को, अपनी जाति व देश की समस्त स्त्री समाज की उन्नति के लिये यत्र तत्र भ्रमण करके, भारत महिलाओ को अपने उन्नत उपदेश के वलसे, उनकी भ्रान्ति और अज्ञता को मूलसे उखाड कर फैंक देना चाहिये, जिससे फिर वे सती स्त्रियां अपनी स्त्री समाज के गौरव को वढाने के लिये अपने कल्याण के मार्ग को खोज निकालें और अपनी श्रेष्ठ चर्या में लग कर दासीत्व की शृंखला (ज़ंजीर) से मुक्त हों और उस प्रयत्न में निरत हो, कि जिससे अपना भारत स्वातन्त्र्य वेश भूषा से शोभित हो और उनके निर्वल भाव सवल वन जाय, और समस्त कुटुम्ब में ईर्ष्या, द्वेष, क्लेश, लेश भी न रहे, और अपने पवित्र जीवन को ऐसा आदर्श रूप

है, कि जिससे भारत संसार को "विधवा-विवाह" जैसा नीच प्रस्ताव पास न करना पडे ॥

जब विधवा समाज ज्ञान और विशुद्ध चरित से पवित्र होगा, तब उन्हें संसार में साध्वियों के समान आदर होगा।

जिनके घर में कोई बहिन, बेटी, बहू विधवा होगई है तब उनके घर वालों का मुख्य उद्देश्य हो कि वे उनसे सदा उचित व्यवहार करें—अच्छा सलूक करें; उनसे किसी प्रकार का अनुचित, निन्दा जनक, घृणास्पद कार्य न करें करावें, कि जिनका परिणाम भ्रूणहत्या होजाता है; उनको भगवती, देवी, सती समझ कर उनकी समुचित धर्म सेवा करें उनके संमुख किसी प्रकार का विकारजनक वर्ताव न करो, स्वयं भी साधारण भोजन वसन से संतोष करो, और उनको भी संतोष मार्ग पर लगाओ। यदि तुम उन दुःखकी सताई हुई पति विहीना विधवाओं के सामने अच्छा खाओगे, अच्छी नैपथ्य रचना (अच्छा पहिनाव) करोगे या नाना कामोत्तेजक कार्य निरत, हो जाओगे, तो उनमें भी लालसा का बीज पैदा होगा, विलास बुद्धि उत्पन्न होजायगी, आपके तुच्छातितुच्छ कामों से उनके मन पर बड़ी चोट लगेगी और उनमें भी अकर्मण्यता की घटा उमड़ आयगी। बस यदि अपनी विधवाओंको सच्चरित्रा बनाना है, तबतो आपभी सच्चरित्र बनो। और उनको सुशीला बनाने में आपको भी सुशील बनना पडेगा, आपके अदूष्य होने

पर, आपके घरकी विधवाएं भी अदूष्या और निर्मला होंगी। अतः हे करुणे! उन विधवाओं की रक्षा करने के लिये मेरे मनोमन्दिर में प्रवेश कर! और उनका उभय लोक सुधार ॥ ३ ॥

हे करुणे! बहुत से दीन मनुष्य जन्म के अन्धे हैं तो कितने ही जन्म के बधिर (बहिरे) हैं, कितनेक तो विचारे लूले, लगड़े, मूक (गूंगे) हैं, वे दीन प्राणी एकतो आँख, कान, जीभ, हाथ, पग आदि की न्यूनता (कमी) से शारीरिक (शरीर सम्बन्धी) दुःख भोग ही रहे हैं, जिसमें फिर खाने की तंगी, हाय! और दरिद्रता का भी तो वज्रपात पड़ रहा है, ऐसे अनेक प्रकार के दुःखितों के सब प्रकार के दुःख निवारण करने के लिये और उनकी रक्षा के लिये, अन्धशाला, बधिरशाला, मूकशाला, जैसी संस्थाएं स्थापित कर! तथा चलती हुई संस्थाओं में हाथ बटा! जैसे बने तैसे उनकी सब प्रकार से रक्षा कर! ॥ ४ ॥

❀ रक्त पित्त वालों की रक्षा ❀

हे करुणे! इस संसार में बहुत से प्राणी जन्म से ही गलित कुष्टि है जिन का शरीर पैदायशी गला सड़ा है, अर्थात् कुष्ट के घावों में से राध, पीप निकलती रहती है, दुर्गन्धसे व्याप्त है, अथवा रक्त पित्त जैसे चेपी दरदोंसे घायल

रहते हैं, उन्हें कोई भी मनुष्य नहीं छूता, न पास ही बैठने देता है। अधिक क्या कहा जावे, ध्यान तक नहीं करता। ऐसी तिरस्कृत दुर्दशा में वे विचारे भूखे, प्यासे, इधर उधर धक्के खाते हैं, अशान्त हैं, निराधार हैं। उक्त रोगियों के लिए, औषधालय वा कुष्ठाश्रम स्थापित करो, उन को कटु तीक्ष्ण विपाक से बचाओ, जिस में उन का दुःख जाता रहे, ऐसे साधनों से उनको आश्रय दो ! ॥ ५ ॥

❀ विद्यार्थी और ज्ञान दान ❀

हे करुणे ! बहुत से कुलीन (खानदानी) बालक दीनता (गरीबी) के कारण, बुद्धिवान् पढ़ने के अत्युत्कट इच्छावान् हैं—परन्तु पढने के साधनों की अनुपस्थिति (ग़ैरहाजरी) में अपनी पढ़ने की इच्छा को पूरी करने में सर्वदा अशक्त हैं। इस कमी के होने पर विद्या और भाग्य का चमकीला सितारा, उदय होने से पहिले ही (अधबीच में ही) अस्त हो जाता है। ऐसे चमकते हुए सितारों को जीवित रखना अत्यावश्यक (निहायत जरूरी) है, उन की पोषणा कर ! उन को खाने, पीने, वस्त्र, शय्या पुस्तक, फीस, काग़ज़, क़लम, दवात, स्याही, बोर्डिङ्ग हाउस आदि उपयोगी सामग्री देकर सहायता कर ! क्योंकि उनकी मदद करना भी अगण्य पुण्य है, कारण अन्न दान से अधिक विद्या दान है, अन्न से कुछ

देर के लिए तृप्ति होती है, परन्तु विद्या—ज्ञान—दान से सारी उमर तक के लिए तृप्ति हो जाती है। अतः उन की यथोचित सहायता कर ! ॥ ६ ॥

❀ पशु और पक्षी ❀

हे करुणे ! मनुष्यों को पूर्ण सहायता देने के पश्चात् शेष शक्ति (बची हुई ताकत) का सदुपयोग पशु और पक्षिओं के रक्षण (बचाव) में कर। हाय ! बहुत से क्रूर पापी जन निरपराधी पशुओ को अनेक प्रकार की पीडा देते है, अधिक भार (बोझ) लाद देते है, नाक कान कतर देते हैं, पांखे काट डालते है, शिकार खेलते है, मांस के लोभ मे आकर उनका गला काट डालते है, गोली, तीर या पत्थर मार कर उड़ते हुए पक्षियों को पटक् कर प्राण ले लेते है। उनकी रक्षा के लिये रक्षक शासन—ऐसे क़ानून बनाओ या बनवाओ जिन से उन को किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे। जीव दया के महत्व को बताने वाली पुस्तकें छपवा कर, अमूल्य वितरण (मुफ़्त तक़सीम) कराओ। जहां तहां उपदेश देकर पीडित पशु और पक्षियो को छुडाओ और उन की रक्षा के लिये, पींजरा पोल, गोशाला, पशुशाला आदि सस्थाएं तैयार करो और उन में अशक्त जन्तुओं की रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थः—माध्यस्थ्य (उपेक्षा) भावना में सच मुच कोई अलौकिक रस (आनन्द-स्वाद) समाया हुआ है। यदि मनुष्य को माध्यस्थ्य भावना का अवलम्ब (आधार) न होता तो उसे कही भी शान्ति का स्थान नही मिल सकता था, क्योंकि संसार मे जहां देखा जाता है, वहां ही, मनको रागद्वेष के आन्दोलन में पटक देने वाले, बहुत से पदार्थ, आँखों के सामने आते रहे है, वह मनोमोहक पदार्थ मनुष्योंको कभीतो सुखमें, कभी दुःखमे फिरा रहा है। क्योंकि पदार्थों का धर्म (स्वभाव) सयोग वियोग रूप होता है। अज्ञानी मनुष्य संयोग (वस्तु के पाने) मे एक प्रकार का अनित्य सुख मान बैठता है। और वियोग मे (इच्छित पदार्थ के नष्ट होने में) दुःख उत्पन्न हुआ समझता है। अतः सुख दुःखकी झलक से संकल्प और विकल्पक में पड जाता है, जिसमे आत्मामें अस्थिरता, और अशान्ति होजाती है—स्थिरता व समाधि नहीं मिलती। इसी लिये मनुष्य के माध्यस्थ्य हृदयी होने से, आत्मा में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं होने पाता, चाहे सुख दुःख का कैसा ही दारुण निमित्त क्यो न मिल जाय, परंतु आत्मा माध्यस्थ्य भावनाच्छादित होने से विकल नहीं होता, जैसे दर्पण (शीशा) को पर्वत के सम्मुख करने से पर्वत का चित्र उसमें आजाता है और उसे यदि समुद्र के सन्मुख करोगे, तो समुद्र का भी अक्स आजायगा, परन्तु पहाड़ के चित्र से चित्रित होने पर

उस शीशे में वोझ नहीं होता और समुद्र के अक्स से दर्पण में गीलापन नही आता; ठीक इसी प्रकार ज्ञानात्माको, सुख दुःख उपस्थित होने पर, हर्ष (सुख), शोक (दुःख) नहीं होता वह अपने निजी आनन्द रस में लीन होजाता है; यह सब माध्यस्थ्य ज्ञान भावना का ही फल है, अतः भव्यजन माध्यस्थ्य भावना में ही रमण करें, जिससे चित्त अशान्त न हो, स्थिर व सहन शील बन जाता है ॥ १ ॥

❀ राग द्वेष किस लिये किया जाय ❀

इस संसार में यदि कोई वस्तु स्थायी-स्थिर (सदा-रहने वाली) हो, तो उस पर प्रेम रखना युक्ति संगत भी है यदि सर्वदा अपने पास रह सके तो किसी क़दर राग करना ठीक भी है, परन्तु हम तो इसके विपरीत देखते हैं। दृश्य पदार्थ (जो पदार्थ हमको दीखते हैं) और भोग्य (जो उपभोग में आते रहते हैं) पदार्थ मात्र अस्थिर विनश्वर हैं। एक समय उन का अवश्य वियोग हो जाता है, तब जिन का थोड़े से समय के पश्चात् पृथक् करण हो जाय, ऐसे पदार्थों में आसक्ति रखना-मोह करना-यही एक दुःख समूह का कारण है, परन्तु सुखार्थी जन ऐसा करना उचित नहीं समझते। जब राग करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है, तब द्वेष करने योग्य पदार्थ भी कोई नहीं प्रतीत होगा। जिस के ऊपर

द्वेष किया जाय, वह पदार्थ भी ध्रौव्यता—नित्यता—को भजने वाला होगा ! नहीं ! कदापि नहीं. क्योंकि परमात्मा के उपदेश से पुद्गल (प्रकृति) मात्र परिणति स्वभावी सिद्ध होना है, जो भौतिक पदार्थ एक समय अरोच्य-द्वेष-घृणा करने योग्य मालूम होता है, तो वही पदार्थ कालान्तर में रोच्य, ग्राह्य हो जाता है। एक समय प्रिय लगता है, तो दूसरे समय में अप्रिय हो जाता है। कभी वह पदार्थ ग्राह्य है तो कभी त्याज्य होता है। जैसे किसी मनुष्य को देहली से आगरे जाना है, तब देहली के स्टेशन पर रेलगाडी ग्राह्य है, उस में बैठ कर जब आगरे पहुँचता है तब वह गाड़ी त्याज्य है, उस में से उतर पडता है। ऐसा मान कर किसी भी पदार्थ पर द्वेष न करे। इसी प्रकार हानि लाभमें भी किसी प्रकार का विचार न करे। अत्यासक्ती—राग में भी न फँस जाय, किन्तु दोनों अवस्थाओं में समान भाव रखना ही माध्यस्थ भावना है। २ —३ ॥

वस्तु की तरह मनुष्यों पर भी राग द्वेष न करो

मनुष्य भी प्रति समय एक स्वभाव में नहीं रमता, किन्तु उनका स्वभाव भी परिवर्तन शील है। यदि कोई मनुष्य आज अधर्मी-पापी है, वही कल धर्मात्मा-पुन्यात्मा बन जाता है, और जो धर्म पक्षी हो वह कालान्तर में अशुभ निमित्त

पाकर, अधर्मी पापकर्मी बन जाता है। नीतिवान् अनीति करने लगता है और अनीति करने वाला, नीति का सम्मान करने लग जाता है। अच्छे मनुष्य बुरे बन जाते हैं और बुरे मनुष्य कालान्तरमें नेक चलन बना लेते है। अतएव मानुषी बुद्धि भी परिवर्तन शील है, तब किस पर तिरस्कार या द्वेष करे, अर्थात् कोई भी व्यक्ति राग द्वेष करने के योग्य नही है। अत सब से माध्यस्थ्य भावी बन कर रहना चाहिये ॥ ४ ॥

उक्त वार्ता मुख से कहने मात्र की ही नहीं है, किन्तु धर्म शास्त्रो में भी अनेक प्रमाण पाये जाते है, यथा—राज-प्रश्निका (राय प्रसेणी सूत्र) में प्रदेशी राजा के अधिकार में कहा है कि राजा प्रदेशी प्रथम तो बड़ा हिंसक, क्रूरकर्मा, नास्तिक, अन्याय कर्ता, घातकी, धर्म विद्रोही, आदि समस्त अवगुणों से भरा पडा था, परन्तु केशी स्वामी जैसे सतगुरु के प्रसङ्ग से उस के सुधरने में कुछ भी समय न लगा और नास्तिक से आस्तिक बन गया, और उस के क्रूरतादिक समस्त दोष क्षण मात्र में प्रलय हो गए और उस के मन में सद्गुणों ने विश्राम किया, तथा श्रावक धर्म धुरीण होकर स्वर्ग में ऊचा आसन प्राप्त किया।

जमालि मुनि कि—जिन्होंने उत्तम परणामों से दीक्षा ली थी, ग्यारह अङ्ग शास्त्रों का अभ्यास किया था, मुनि वर्ग में जिसकी सितारे समान चमक दमक थी, भगवान् महावीर

स्वामी के साथ जिन का रहन सहन था, परन्तु जब उन की श्रद्धा में परिवर्तन हुआ, तब वे सम्यक्त्व से परिभ्रष्ट हो गए थे और उपकारी महात्मा के विशद उपकार को विस्मृत कर, अपकार– कृतघ्न कोटि में आ गये थे, और अपनी प्ररूपणा में भी विपरीतता करली थी, और मिथ्यात्व के गर्त (गढे) में गिर पड़े थे, जब ऐसे प्रमाण सुनने देखने में आ जाते हैं, तब नर श्रेष्ठता का हिसाब ग़लत हो जाता है, ऐसा मान कर किसी के ऊपर राग द्वेष न करना चाहिए, और यही उचित है कि–गुण ग्रहण कर ले, और अवगुण को देखने मात्र से समता कर लेवे, अर्थात् उसमें माध्यस्थ्य रूपी बनकर दोषों को छोड़ देवे किसी का तिरस्कार न करे, घृणा न करे। सब को अपने पूर्वकृत कर्मानुसार प्रकृति या स्वभाव मिला है। इस में किसी को किसी के प्रति दुःख देने या द्वेष करने का अधिकार नहीं, किन्तु जहां तक हो सके, अच्छी सम्मति देना, तथा सुमार्ग पर लगा देना ही पर्याप्त है, यदि यह अपनी शक्ति से बाहर समझे तो माध्यस्थ नद[१] के तटस्थ[।] हो जाय ॥५॥

अच्छे और बुरे संयोगों में मध्यस्थता

जिस प्रकार मनुष्यों की आन्तरिक भावनाएं चंचल हैं,

---

[१] समुद्र। [।] किनारे।

ठीक इसी प्रकार, वाह्य संयोग भी परिवर्तन शील है। यदि एक घडी में अनुकूल हैं तो क्षण भर में प्रतिकूल बन जाते हैं। कहीं एक समय में पुत्र की प्राप्ति होजाती है तो दूसरे समय में उसकी मृत्यु होजाने पर वियोग होजाता है, व्यापारी लोक एक दावमें बहुतसा लाभ प्राप्त कर लेते हैं तो दूसरे दावमें टोटा पड जाता है और बडी हानी होजाती है। आशय यह है कि, सयोग पवन से ध्वजा की तरह हर समय हिरते फिरते हैं, इसी प्रकार मनुष्य भी इष्ट अनिष्ट रूप होता रहता है, ऐसा समझ कर मनुष्य को माध्यस्थ्यता की तुलना करनी चाहिये। अच्छा,वुरा, यह एक मनकी मान्यता है, आत्म गुण नहीं, परन्तु श्रेष्ठ मान्यता आत्मा को अवश्य सहकारी होगा ॥ ८ ॥

❀ कर्मानुसारी फल ❀

संसार मे जीवों को अच्छे और वुरे, सव प्रकार के संयोग मिले हुए हैं, वे किसी के दिये हुए नहीं है, अर्थात् उसमें, ईश्वर, ख़ुदा, ब्रह्मा (God) आदिक किसी का हाथ नहीं है। मतलब यह है कि पूर्वकृत कर्म के फलसे आत्मा सब कुछ पारहा है। शुभकर्म से अच्छे संयोग और उन्नति,तथा अशुभ कर्म्म से वुरे संयोग और अवनति (अधः पतन) पा लेता है। वस्तु का स्वभाव ही उन्नत अवनत करना रहता है,

यथा, दूध पीने वाले को स्वयं शक्ति मिल जाती है और मदिरा (शराब) पीने वाले के फुप्फुस (फेफड़े) गल जाते है, वह स्वय शक्ति हीन होकर मर तक जाता है, अग्निकी शिखा स्वयं ऊंची चली जाती है और बहने वाला जल स्वयं नीचे को जाता है—ठीक इसी प्रकार जीव भी अच्छे और बुरे पुरातन कर्म्म के फलों को पाता रहता है, फिर उनमें हाय २ करना या राग, द्वेष, पश्चात्ताप करना व्यर्थ है, उससे कुछ लाभ न होगा। यह विचार करना चाहिये, कि हे आत्मन्! कर्म संचय करते समय सोच विचार क्यों न किया? यदि अशुभ संयोग इच्छित नहीं थे (प्रिय नहीं थे) तो प्रथम ही अशुभ कर्म्म का सञ्चय न करना चाहिये था, जब ये अपने ही संचित कर्म्म है, तब तो समता भाव रख कर उन कर्म्मों के परिणाम को, गुंगे पनसे भोग लेना चाहिये, परन्तु इसमे हर्ष और शोक का करना महा मूढ़ता है। इसमें भी माध्यस्थ्य की झलक पैदा करो ॥ ७ ॥

❀ परोपदेश ❀

यदि कोई कदाचारी, या अधम हो तो उसके सुधारने का मत्र, सम्मति (सलाह) उपदेश अवश्य दे देना चाहिये, परन्तु वहाँ तक, कि—जहाँ तक उसे उपदेश सुनने की अपेक्षा हो तब। जो कदाचित् सुनने सुनाने द्वेष, अरुचि उत्पन्न होजाय

तब उपेक्षा से मौन धारण कर लेना चाहिये, यदि उसके समान स्वयं को धिक्कृति मिले और दोनों में परस्पर क्लेश उत्पन्न होनेकी संभावना हो जाय तब मौनावलम्ब ही श्रेय है।

सारांश

कठोर कर्म करने वाले, देव और गुरु की निन्दा करने वाले, तथा अपनी श्लाघा (प्रशंसा) करने वाले जीवों में निस्संदेह होकर मनकी जो उपेक्षा (मनोऽपवृत्ति) करना है, सुज्ञों ने उसे "माध्यस्थ्य भावना" कहा है ॥ ६ ॥

❀ समाप्तोऽय ग्रन्थः ❀